ISSN 2347-8004 Bodhi Path
पंजीकरण संख्या-DELBIL/2011/41024

★ Half-yearly Bilingual Buddhism , Philosophy and UGC Approved Journal

★ जनवरी 2018, अंक - चौदहवां, द्विभाषिक छमाही पत्रिका

बोधि-पथ

Bodhi Path

Budha Education Foundation

Ph.: 9968262935, 8447637374, Web: http://bodhi-path.com

ISSN 2347-8004

बोधि–पथ

वर्ष : जनवरी 2018, अंकः 14 द्विभाषिक छमाही पत्रिका

प्रबंधक
भिक्खु विश्वबन्धु, चैयरमेन,
बुद्धा ऐजूकेशन फाउण्डेशन (ट्रस्ट)

संरक्षक
प्रोफेसर नरेषमान वज्राचार्य, कुलपति
लुम्बिनी दिल्ली विश्वविद्यालय, लुम्बिनी, नेपाल।

परामर्श दाता
प्रो.के.टी.एस.सराओ, विभागाध्यक्ष
बौद्ध अध्ययन विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय।

सम्पादक
डॉ संघमित्रा बौद्ध,
बौद्ध अध्ययन विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय।

उप–सम्पादक (अंग्रजी)
डॉ अमिता कपूर, एसोसिएट प्रोफेसर,
षहीद राजगुरू कॉलेज दिल्ली विश्वविद्यालय।

वेबसाइट व्यवस्थापक
श्री नरोत्तम सिंह
लेखक व हीलर

राज्य ब्यूरो
दिल्ली, राजस्थान, हरियाणा, पंजाब, उत्तरांचल, उत्तराखण्ड, मध्य प्रदेष, उत्तर प्रदेश, बिहार, वेस्ट बंगाल।

वितरण
बुद्धा ऐजूकेशन फाउण्डेशन (ट्रस्ट), मैत्रेय बुद्ध विहार, तीसरी मंजिल, एच–2/48 सै॰16, रोहिणी, दिल्ली–89
नोट :सम्पादक मण्डल के नियुक्त सभी पदाधिकारी अवैतनिक एवं परिवर्तनीय हैं ।

बोधि–पथ पत्रिका में प्रकाशित सामग्री लेखकों के निजी विचार हैं । आवश्यक नहीं कि प्रकाशक व सम्पादक उनसे सहमत हों।

"Disclaimer: The views and opinions expressed in the articles published are those of the authors and do not necessarily reflect the view or opinion of the magazine Bodhi-Path or any member of its Panel."

प्रकाशक, मुद्रक एवं स्वामित्व धारक **भिक्खु विश्वबन्धु** के लिए स्टार फार्म, 8710, रोशनारा रोड, सब्जी मंडी, दिल्ली–110007 से मुद्रित एवं बुद्धा ऐजूकेशन फाउण्डेशन (ट्रस्ट), मैत्रेय बुद्ध, विहार, तीसरी मंजिल, एच–2/48, सै. 16, रोहिणी, दिल्ली–110089 से प्रकाशित । सम्पादक का नाम और पता : **डॉ. संघमित्रा बौद्ध,** तृतीय तल, एच–2/48, सै. –16, रोहिणी, दिल्ली–110089

अनुक्रमणिका

सम्पादिका	डॉ संघमित्रा बौद्ध	01
भगवान बुद्ध की दृष्टि में नारी का अस्तित्व	डॉ. रंजना रानी सिंघल	03
प्राकृतिक चिकित्सा, विपश्यना साधना और मानसिक स्थिति	डा. संघमित्रा बौद्ध	09
The Buddhist Perspective on Women	Mayuri Dihingia	13
विपश्यना–साधना : मानसिक शान्ति का मूलमंत्र	डॉ. दीपंकर लामा	21
अर्थ परिवर्तन का घृण्य–सिद्धांत	डॉ0 (भिक्षु) प्रज्ञापाल	25
Bhikkhuni in Theravada Buddhism	Phramaha Sunthorn Natasaeng	31
प्रथम बौद्ध संगीति के अध्यक्ष महाकाश्यप (ई0पू0 483)	डॉ0 यु. कुण्डला	36
बुद्ध द्वारा अछूतों एवं असहायों की धम्म दीक्षा	डॉ0 कामेश्वर प्रसाद	40
Ven. Ledi Sayadaw: The Great Pioneer of Meditation Master	Ashin Htayeinda	44
धम्मपद में अभिधम्म के तत्त्व	पिंकु कुमार	48
''वैश्विक आतंकवाद के समाधान में बौद्ध अहिंसा''	सुषमा श्री	52
Genesis of Drikung-bKa-brgyud tradition of Tibetan Buddhism	Thinlay Norboo	57
सम्राट् कनिष्क और चतुर्थ बौद्ध संगीति	सुभम कुमार	61
रसवाहिनी: एक परिचय	राहुल राय	65
Conflict and Peace —within and without: A Peep through Dharma Dhamma Tradition.	Ashwani Kumar	68
वैर रूपी रोग का उपचार - करुणा एवं मैत्री से।	धम्मपद	76

निवेदन

पत्रिका 'बोधि–पथ' की सदस्यता के लिए आप अपने मित्रों, परिचितों एवं अन्य को भी सदस्य बनाकर सहयोग करें। पूर्व ग्रहित सदस्यों की सदस्यता इस अंक के साथ समाप्त हो गई है। कृपया करके अपनी सदस्यता शुल्क की राशि को खाता न0 – 3007101001960, केनरा बैंक, रॉकफिल्ड पब्लिक स्कूल, सै. 16, रोहिणी, दिल्ली–110089 में जमा करने का कष्ट करें। ताकि राशि सहयोग द्वारा पत्रिका का सुचारू रूप से प्रकाशन हो सके। और अपने अमूल्य सुझाव एवं हिन्दी लेख ज्ञनदकसप एवं अंग्रेजी लेख को भी ई–मेल : sanghmb@gmail.com पर भेजने का कष्ट करें।
Website: http://bodhi-path.com

E-mail : darshitraders@gmail.com, sanghmb@gmail.com
दूरभाष न.– 9968262935, 08447637374, 9810319200
प्रति मूल्य : 50रु॰ सदस्यता शुल्क : वार्षिक 100रु॰, द्विवार्षिक 200रु॰, आजीवन 5000रु॰

सम्पादिका

बौद्ध धर्म श्रमण परम्परा का एक निवृतिमार्गी धर्म है जिसके प्रवर्तक भगवान् बुद्ध हैं। वैदिक परम्परा में जहाँ पुरुषार्थ चतुष्टय–धर्म, अर्थ, काम, एवं मोह को महत्व प्राप्त है तथा वर्णाश्रम व्यवस्था है। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ सन्यास के लिए आयु निर्धारित है। बौद्ध परम्परा में इस तरह की व्यवस्था न पाए जाने से निवृत्ति प्रधान कहा जाता है। निर्वाण को परम लक्ष्य मानकर आचरण हेतु संहिता बनाई गयी। ई. पू. छठी शताब्दी में बुद्ध ने हिंसक यज्ञों का विरोध कर समाज में अहिंसा को प्रतिष्ठा दिलाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की, जो भव–व्याधि से पीड़ित मानव के लिए वरदान सिद्ध हुई।

;k ik.kkfrikrfr e|lkokn¥p Hkk lfrA
ykd vfnUu vkfn;fr ijnkj¥p xPNfrA
l|jkej;iku¥p ;k ujk vu;|¥tfrA
b/koe|lk ykdfLe e;y [kufr vŸkukA ¼/kEein (eyoXxk&18@246½

गृहस्थों के लिए प्रतिपादित बौद्ध परम्परा में पंचशील तथा भिक्षु के लिए दस शील पालनीय हैं। पंचशील शब्द से पाँच प्रकार के प्रतिष्ठत शिक्षाओं (नियमों) का ज्ञान होता है। व्यक्ति इनका पालन करता है, उसका आचरण शुद्ध एवं पवित्र माना जाता है। पंचशील का आरम्भ ^Ikk.kkfrikrk oje.kh^ से होता है। जिसका तात्पर्य है हिंसा से विरत रहना तथा कर्म व वाणी को संयमित रखना।

पंचशील आचार के नैतिक नियम निर्धारित करते हैं अतः इन्हें शिक्षापद भी कहते हैं, क्योंकि ये गृहस्थमात्र के लिए आचरणीय ठहराये गये हैं, इसलिए इन्हें गृहस्थ शील भी कहते हैं। सामान्यजन के लिए नित्य आचरणीय होने के कारण इनको नित्यशील भी कहते हैं।

बौद्ध परम्परा में गृहस्थों की आचार संहिता होती हैं। जिनका विस्तार से प्रतिपादन पाया जाता है। इसमें गृहस्थों को पूजा के स्थान पर छः विशेष कर्तव्य बतलाए गये हैं। सिंगालावादसुत्त में गृहस्थ के अधिकार एवं कर्तव्य का जितना सुन्दर व सरल विवेचन मिलता है अन्यत्र नहीं। यह आदर्श गृहस्थ की ऐसी आचार संहिता कही जा सकती है कि जो किसी जाति, सम्प्रदाय, धर्म पंथ, या राष्ट्र की सीमा से बाधित नहीं होती।

भगवान् बुद्ध ने जिस जीवनविधा को लोक में स्थापित किया वह भौतिक तथा कायक्लेश दोनों प्रकार की उपलब्धियों का सन्तुलित मिश्रण है। उसमें उन्होंने कहा कि न तो लौकिक सुख की ओर अर्थात् इन्द्रिय–सुख की ओर अत्याधिक अभिरूचि होनी चाहिए। जो काम और विषय वासनाओं का जीवन है, जो अत्यन्त हीन अनार्य और अनर्थकर है। दूसरा न ही कायक्लेश में अभिनिवेश होना चाहिए। क्योंकि शरीर को व्यर्थ ही पीड़ा पहुँचाना भी अत्यन्त हीन अनार्य और अनर्थकर है। इन दोनों

अन्तों का त्याग कर बुद्ध ने आर्य अष्टांगिक मार्ग को प्रशस्त किया। आर्य अष्टांगिक मार्ग ही मध्यम प्रतिपदा है। यह उच्चतम आध्यात्मिक एवं समाजिक जीवन जीने का मार्ग है। इस मार्ग से पथिकों की दुःखों से मुक्ति होती है। आर्य अष्टांगिक मार्ग का अंतिम उद्देश्य निर्वाण प्राप्ति है। निर्वाण प्राप्त लोग आध्यात्मिक दृष्टि से निष्पक्ष होते हैं। अतः इनके क्रिया कलापों से न तो किसी को कष्ट होता है और न ही वे कर्मबन्धन में फंसते हैं।

बौद्ध परम्परा में परिशुद्ध आजीविका के विभिन्न स्वरूप मिलते हैं। जीवन यापन करने के लिए जीविका मुख्य होती है, जिससे मनुष्य का जीवन व्यवस्थित एवं उत्तक तरीके से व्यतीत हो सके। इसलिए बुद्ध ने सम्यक् आजीविका में प्राणियों का व्यापार, हथियारों का व्यापार, मांस का व्यापार, शराब का व्यापार, विष का व्यापार आदि से अर्जित जीविका को अशुद्ध बतलाया और ऐसी जीविका से विरत रहने का उपदेश दिया। जीविकोपार्जन की विधि और तरीकों से अन्य व्यक्तियों को कोई हानि न हो तथा अपनी आजीविका के साथ–साथ अन्य व्यक्तियों के कल्याण की सम्भावना हो अर्थात् जीविकोपार्जन उन सभी मिथ्या आजीविकाओं से विरत एवं उचित विधि से अर्जित करना ही सम्यक् आजीविका है।

सुत्तनिपात के धम्मिक सुत्त में गृहस्थ के आचरण पर विशेष और विस्तार से भगवान् बुद्ध ने निर्देश दिए हैं। वे उत्तम श्रावक गृहस्थ के आचरणीय धर्मों के विषय में सर्वप्रथम अहिंसा पर बल देते हैं। उन्होंने कहा कि मनुष्य को चाहिए कि वह संसार के समस्त प्राणियों के प्रति हिंसा का परित्याग करके न तो किसी प्राणी की हिंसा करे, न हींसा के लिए किसी को प्रेरित करे और न हिंसा करने के लिए किसी को अनुमति दे। इसी प्रकार दूसरे की वस्तु को अनधिकृतरूपेण ग्रहण करने का विचार मनुष्य न करे, किसी को इस कार्य के लिए प्रंरित भी न करे और अनुमति भी न दें।

बुद्ध का धर्म एक व्यवाहारिक धर्म है। इसमें आचार–व्यवहार के साथ–साथ नैतिकता की शिक्षा भी समाहित है, जो पंचशील पर आधारित है। मानसिक, कायिक एवं वाचिक धर्मों को पूर्ण रूप से ग्रहण करना ही पंचशील है। यह सभी गुणों का मूल ह। बुद्ध का मार्ग साधना का उत्कृष्ट मार्ग है। बुद्ध–धर्म एक सार्वभौमिक धर्म है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि परिवार का सुखी जीवन तभी सम्भव है, जब गृहस्थों द्वारा अपने धर्म–कर्त्तव्यों का सही ढंग से आचरण किया जाए। प्रस्तुत बोधि–पथ के माध्यम से बुद्ध का अमर संदेश आप तक पहुंचाने का यह एक विनम्र प्रयास है। पत्रिका के समृद्ध सम्पादन में उन समस्त लेखकों व विद्वज्जनों का हम हृदय से आभार व्यक्त करते हैं जिनके लेखों एवं बहुमूल्य सुझाव द्वारा यह कार्य पूर्ण किया गया। इससे आपके ज्ञान–भण्डार में कुछ वृद्धि हुई तो हम अपना प्रयास सफल समझेगें।

Mk l?kfe=k ck)

भगवान बुद्ध की दृष्टि में नारी का अस्तित्व

Mk- j;rk jkuh fl?ky] ,lkfl,V izkQsljh lR;orh dkyst ¼bofux½ fnYyh fo'ofo|ky; A

हमारे विश्व का इतिहास प्राचीन काल से ही पुरुष प्रधान समाज रहा है। महिलाओं की समाज में भूमिका पुरुषों की अपेक्षा काफी निम्न रही है। नारी अपने जीवन में बहुत सीमित वस्तुओं को ही प्राप्त कर सकती थी क्योंकि उसके जीवन की धारा जन्म से मृत्यु तक पिता, भाईयों व अन्ततः पतियों के अधीन थी इस तरह की पुरुष प्रधान दुनिया में नारी अपने विकास की बहुत ज्यादा आशा नहीं कर सकती थी। प्रारम्भ से ही पुरुषों ने महिलाओं के विकास पर अधिक कार्य नहीं किए। पुरुषों ने महिलाओं को अपने बराबर मानने में सदैव अस्वीकार किया तथा नारी को केवल एक सीमित, सादा जीवन व्यतीत करने के लिए प्रेरित किया। वे महिलाओं को हीन भावना से देखते थे। पुरुष नारियों को अपना बंधक व स्वयं को इनका राजा मानते थे। नारी को केवल प्रजनन क्रिया के लिए उपयोग किया जाता था। इसलिए मानव जाति को ठीक प्रकार से समझने के लिए तथा मानव जाति में पुरुष तथा नारी के मध्य समानता का अनुभव प्रदान करने के लिए ऐसे प्रतिमान की आवश्यकता थी जिसमें किसी एक लिंग को केन्द्र में रखकर तथा दूसरे लिंग को किनारे पर रखने से सुनिश्चित तौर पर बचा जा सके। इस प्रकार मानव जाति के विकास के लिए तथा नारी के कल्याण के लिए आज से लगभग 2550 वर्ष पूर्व बौद्ध धर्म के संस्थापक भगवान बुद्ध ने एक ऐसा ही कार्य करने के लिए एक महत्वपूर्ण प्रयास किये थे।

छठी शताब्दी ईसा पूर्व बुद्ध का युग गंगा नगरीकरण के उद्‌भव व विकास के साथ–साथ तत्कालीन ब्राह्मण संस्कृति के हाशिये का प्रमुख गवाह था। तथागत ने समाज में महिलाओं व पुरुषों को एक ही एकीकृत व्यक्तित्व के पूरक पहलुओं के तौर पर बुद्धि व करुणा के रूप में देखा। बौद्ध धर्म के संस्थापक बुद्ध ने अपने संघ के भीतर नारी को व्यक्तिगत रूप में समान स्थान प्रदान किया। भगवान बुद्ध तथा उनके प्रिय शिष्य आनंद व उनके कुछ अन्य सहयोगियों का यह स्पष्ट मत था कि मनुष्य की जाति की भांति लिंग भी किसी व्यक्ति द्वारा दुख से छुटकारा पाने के बौद्ध लक्ष्य को प्राप्त करने में बाधा नहीं हो सकता था। समाज में कई लोग बुद्ध द्वारा पत्नी व गृहत्याग की घटना की आलोचना करते हैं परन्तु पत्नी व पुत्र के परित्याग के कारण बुद्ध की आलोचना अनुचित है क्योंकि उस समयकाल में आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करने की चेष्टा रखने वालों से यह अपेक्षा की जाती थी कि वह मनुष्य की तीन सार्वभौम बेड़ियों, धन, स्त्री व प्रतिष्ठा का त्याग करे। ज्ञान प्राप्ति के लिए तथागत ने यह किया समाज में सभी प्राणियों के दुख का मूल कारण तृष्णा को बताया।

बौद्ध धर्म में नारी के अस्तित्व व प्रतिष्ठा को लेकर दो परस्पर विरोधी रूप प्रदर्शित किए गए हैं। एक ओर नारी को धार्मिक जीवन के लिए नितांत बाधक माना गया है क्योंकि स्वयं बुद्ध भी गृहस्थ जीवन को जीवन के चरम लक्ष्य 'निर्वाण' प्राप्ति के मार्ग में बाधक समझते थे इसी कारण स्वयं बुद्ध ने भी गृहस्थ जीवन त्याग कर परिव्राजक जीवन का प्रतिपादन किया था। उदाहरण के लिए जब

शाक्य व कोलिय वंश के झगड़े में शाक्य राजा शुद्धोधन व अन्य शाक्य कुमारों की मृत्यु के पश्चात् जब महाप्रजापति गौतमी अन्य शाक्य स्त्रियों को साथ लेकर अपने सिर मुड़वाकर, काषाय वस्त्र धारण करके बुद्ध के पास वैशाली पहुँचे तो बुद्ध ने नारियों को अपने बौद्ध धर्म के संघ में प्रवज्जा प्रदान करने की अनुमति देने से इन्कार कर दिया था। परन्तु बुद्ध के प्रिय शिष्य आनंद के आग्रह करने पर बुद्ध ने कहा कि यह संभव है कि भिक्षुणियाँ बनकर स्त्रियाँ अर्हत फल की प्राप्ति कर सकती है परन्तु इन अठ्गुरु धम्मा का पालन करना होगा जो निम्नलिखित हैः–

- प्रत्येक भिक्षुणी को चाहे वह संघ में कितने भी वर्षों से रह रही हो सभी छोटे–बड़े भिक्षुओं को प्रणाम करना चाहिए तथा उनका आदर सम्मान करना चाहिए।
- भिक्षुविहीन स्थान पर भिक्षुणियों को वर्णावास नहीं करना चाहिए।
- भिक्षुणी भिक्षु संघ से यह पूछ ले कि हर पखवाड़े में उपोसथ किस दिन है और धर्मोपदेश सुनने के लिए किस दिन जाना है।
- वर्षावास तथा चार्तुमास के पश्चात भिक्षुणी को दोनों संघ की अर्थात् भिक्षु संघ और भिक्षुणी संघ की प्रवारणा करनी चाहिए अर्थात् स्वदोण बताने के लिए सभी से प्रार्थना करनी चाहिए।
- प्रति अर्द्धमास में किसी भिक्षु के समक्ष अपने पापों को स्वीकार करना चाहिए और जिस भिक्षुणी से संधोविशेष आपत्ति हुई हो उसे दोनों संघों में पन्द्रह (15) दिनों के लिए संघ के संतोष के लिए विहार से बाहर रातें व्यतीत करनी चाहिए तथा दोनों संघों से क्षमायाचना करनी चाहिए।
- जिस श्रामणेरी ने दो वर्ष तक अध्ययन किया हो उसे दोनों संघ उपसम्पदा प्रदान करें।
- किसी भी कारण से भिक्षुणी भिक्षु को अपशब्द न बोले तथा गाली गलोच कभी न करे।
- भिक्षुणी को प्रति अर्द्धमास एक भिक्षा लानी चाहिए।
- भिक्षुणी को अपने कर्तव्यों को भली भांति समझना चाहिए तथा सभी नियमों का पालन करना चाहिए।
- वे भिक्षुओं को विपथ न करें।
- भिक्षुणियाँ पाप से मुक्त रहें।

इस प्रकार भिक्षुणियों को बौद्ध संघ में आठ गुरु धर्मों का पालन करना होता था। इन नियमों के पीछे भगवान बुद्ध का शायद यही भय था कि भिक्षु व भिक्षुणी का संपर्क कहीं संघ में भ्रष्टाचार उत्पन्न न कर दे। इस तरह हम कह सकते हैं कि बुद्ध मानवी चरित्र की दुर्बलताओं से भली भांति परिचित थे वे नहीं चाहते थे कि किन्हीं कारणों से बौद्ध संघ में भ्रष्टाचार उत्पन्न हो। इन नियमों को इसी कारण बनाया गया। बुद्ध संघ में स्त्रियों के प्रवेश को निषेध करके उनके उद्दीपन की संभावना को निर्मल करना चाहते थे और जिसके परिणामस्वरूप सारी सत्ता भिक्षु संघ के अंतर्गत रहे इसलिए यह नियम बनाये गये और इतने में भी बुद्ध का अंतिम उपदेश था कि स्त्रियों के संघ में प्रवेश से संघ की आयु क्षीण हो गयी है यदि बौद्ध संघ में स्त्रियों का प्रवेश नहीं होता तब यह धर्म लगभग जहाँ एक हजार वर्ष तक कायम रहता वही यह धर्म अब केवल पाँच सौ (500) वर्षों तक ही कायम रह पायेगा। इस पर लगभग 80 वर्ष की उम्र में तथागत को भी जरा अवस्था का अनुभव हुआ तथा बुद्ध का जब अंतिम समय निकट आया तब बुद्ध के प्रिय शिष्य आनन्द ने तथागत से पूछा कि स्त्रियों

के प्रति भिक्षुओं का व्यवहार किस प्रकार का होना चाहिए? इस का उत्तर देते हुए बुद्ध ने कहा कि भिक्षु को उनका सम्मान/आदर करना चाहिए। इस प्रकार यह माना जाता है कि बुद्ध ने जो स्त्रियों के संघ में प्रवेश को न देने के आधार पर आलोचना की जो विरोध किया था वह केवल नारी के कामिनी रूप में की गई। व्यक्तिगत रूप से बुद्ध नारी का सदैव सम्मान करते थे। बुद्ध के लिए यह कथन असत्य है कि वे स्वभाव से स्त्री विरोधी थे और उसे नितान्त हेय समझते थे। स्त्री विरोधी उनके कथन स्त्री पर कामिनी रूप में ही उपयुक्त होते हैं उनका उद्देश्य समस्त नारी समाज की प्राकृतिय अयोग्यता का प्रतिपादन करना नहीं था। बौद्ध इतिहास की अमर नारियाँ– किसा, गौतमी, खेमा, विसाखा आदि तथागत के इस विश्वास की सत्यता का साक्षी है।

बुद्ध के अनुसार नारी में कोई भी अशुद्धता नहीं है और नारी को केवल पुरुष समाज की सम्पत्ति नहीं समझना चाहिए। नारी को बौद्ध इतिहास में नितान्त शुभ वर्णों में अंकित किया है। इसके अनुसार नारी कभी भी घृणा की पात्री नहीं हो सकती वह तो पुरुष की परम सखा है। नारी पुरुष का सदैव भला ही चाहती है तथा वह तो पुरुष की जननी है। बौद्ध साहित्य की जातक कथाओं में सुजाता एवं अनेक पतिव्रता स्त्रियों के उदाहरण प्राप्त होते हैं। बुद्ध ने नारी को नितान्त शुभ वर्णों में अंकित किया है उनके अनुसार वह भार्या के रूप में जिन उत्तरदायित्वों व कर्तव्यों का संवहन करती है उन्हीं पर समाज का उत्कर्णायकर्म अवलम्बित है। वह समाज की आधारशिला है, पुरुष के व्यक्तित्व का अंकुरण माता के अंक में ही होता है यही उसका प्राथमिक एवं सर्वप्रथम शिक्षालय है। यदि माता पुरुष के चरित्र की संरोपण भूमि है तो पत्नी उसके विकास हेतु प्रस्तर स्तम्भ। बुद्ध के अनुसार पत्नी के रूप में स्त्री पुरुष के सुख–दुख, आशा–निराशा आदि द्वन्दो में चिर साहचार्य देती हुई जीवन के सम विषम पथ पर उसके साथ निरन्तर गति से चलती हुई निरन्तर सहभागिनी बनी रहती है। नारी सामाजिक उत्कर्षापकर्ण का मापदण्ड है। उसकी सामाजिक स्थिति से सम्पूर्ण समाज प्रभावित होता है तथा नारी के सामाजिक मूल्य से समाज का मूल्यांकन भी किया जा सकता है। बुद्ध सैद्धांतिक रूप से नारी को पुरुषों के समान समझते थे। बुद्ध के अनुसार पुत्री वास्तव में ज्ञानी व गुणी बनकर पुत्र से अधिक अच्छी तथा आदर करने वाली संतान सिद्ध हो सकती है।

बौद्ध साहित्य के संयुक्त निकाय के मातुगाम सुत्त में बुद्ध ने अपने उपदेशों में कहा है कि नारी एवं पुरुष में नैसर्गिक अन्तर है। नारी की पाँच परेशानियां एवं विशेषताओं का बुद्ध ने वर्णन किया है। बुद्ध कहते हैं कि भिक्षुओं नारी रजस्वला होती है जबकि पुरुष नहीं होता। नारी अपना विवाह होने पर माता–पिता का घर छोड़कर पति के घर चली जाती हैं जबकि पुरुष विवाह के पश्चात् अपना घर छोड़कर नारी के घर नहीं जाता। स्त्री गर्भाधान करती है जबकि पुरुष नहीं करता स्त्री बच्चों का प्रजनन करती है जबकि पुरुष नहीं करता। उनके अनुसार विवाह के पश्चात् स्त्री को पति के घर में जाकर विशेष रूप से उसका घर संभालना चाहिए। बौद्ध साहित्य में वर्णन प्राप्त होता है कि साकेत नगर के करोड़पति सेठ धनंजय की जो पुत्रियाँ विशाखा व सुजाता थी। उनके पिता ने बुद्ध के उपदेशों से प्रेरित होकर विशाखा के विवाह पर विशखा को एक उत्तम गृहिणी होने के लिए दस उपदेशों का पालन करने को कहा जो निम्नलिखित हैं–

1. पुत्री बाहर की आग अंदर मत लाना।
2. पुत्री कभी घर के अंदर की आग बाहर मत ले जाना।
3. खुशी से बैठना,
4. खुशी से उठना,
5. खुशी से सोना,
6. आग की इज्जत करना,
7. घर के देवी–देवताओं का आदर करना,
8. उसी को सहायता करना जो तुम्हारी करता है,
9. उसकी सहायता मत करना जो समय पर तुम्हारी नहीं करता,
10. जो सहायता न करे उसको भी देना, जो सहायता करे उसकी भी सहायता करना।

बौद्ध साहित्य की थेरी गाथा में गाथा नाम से यह कथा है विशाख का विवाह श्रावस्ती के नगर के सेठ मिगार के पुत्र पुष्यवर्द्धन से हुआ। इस विवाह में कोसल नरेश प्रसेनचित स्वयं सम्मिलित हुआ था व वर पक्ष की ओर से गया था उसका ससुर मिगर जैन धर्मावलम्बी था। जब वह ससुर घर गई तो वह बौद्ध संघ का दान देने लगी। बौद्ध धर्म में भक्ति देख कर बहू को धर्म विरोधिनी समझा गया। ससुर चाहता था कि बहू जैनों की भक्ति करे। उधर बहू चाहती थी कि बौद्धों में भक्ति करें। अन्त में विशाखा ने अपनी सेवा, सुशीलता, धर्मनिष्ठा, गुणों तथा तर्कों से ससुर की निष्ठा बौद्ध धर्म में स्थापित कर दी आगे जाकर अपने ससुर की माता कहलायी यानि उसे मिगार माता विशाखा नाम से बौद्ध धर्म में पुकारा जाने लगा। बौद्ध साहित्य के अंगुतर निकाय में बुद्ध ने विशाखा को नारियों के कत्तव्य की स्वयं शिक्षा दी थी बुद्ध ने कुलवन्ती स्त्रियों के लिए आठ गुणों को ग्रहण करने का विधान बतलाया है वे आठ सूत्र हैं।

– कुलवधुओं को सास ससुर की सेवा करनी चाहिए उनसे सदैव प्रिय व सहानुभूति पूर्वक वचन बोलने चाहिए।
– उनके प्रत्येक सुख का ख्याल करना चाहिए।
– अपने पति के मित्र तथा साधु संतों की उचित सेवा सम्मानपूर्वक करना चाहिए।
– घर में रखी कपास के उपयोग की कला में स्त्री को दक्ष होना चाहिए।
– घर के दास दासियों के जिम्मे लगाये गये काम उनके भोजन वस्त्र की व्यवस्था पर पूर्ण निगरानी रखनी चाहिए। पति द्वारा लाये गये धन का समुचित उपयोग के बाद उसकी रक्षा करनी चाहिए तथा अपने सभी परिवार के सदस्यों के साथ प्रेमपूर्वक व्यवहार करना चाहिए।
– पंचशील के नियमों का पालन करना चाहिए।

इसी सेठ की दूसरी कन्या थी सुजाता ने अपने पिता की शिक्षा का पालन नहीं किया और बुद्ध के परम भक्त अनाथपिंडक की पुत्रवधू बनकर वर का सम्मान नहीं किया व घर का नरक बना दिया। भगवान बुद्ध कहा करते थे कि पति पत्नी यदि चाहें तो अपने गृहस्थ जीवन की सुखी बना सकते हैं या दुखी बन सकते हैं। सुखी दुखी जीवन बनाना किसी ईश्वर या किसी देवता के हाथ में

नहीं है। यह मात्र अपने कर्मों के आधार पर गृहस्थ जीवन में पति पत्नी के रहने के चार रूप होते हें ऐसा मनुष्य भगवान की दृष्टि में इस प्रकार है ऐसे गृहस्थ जीवन में

– एक लाश एक लाश के साथ रहती है।
– एक देवता एक देवी के साथ रहता है।
– एक लाश एक देवी के साथ रहती है।
– एक देवता एक लाश के साथ रहता है।

यहाँ लाश से मतलब पंचशील (हिंसा, चोरी, झूठ, शराब, व्यभिचार से दूर रहना) का पालन न करना देवता का मतलब पंचशील का पालन करना है। इस प्रकार पति पत्नी अपनी सूझ बूझ से अपने गृहस्थ जीवन को एक अनुपम जीवन बना सकते हैं। बुद्ध व आनन्द द्वारा ऐसे रूख को अपनाया जाना परम्परागत लिंगीय विकृति से परे सद्‌गुण व अध्यात्मिक समावम को पहचानने की ओर से किए गए प्रयासों को प्रतिविम्बित करता है। बुद्ध ने नारी को ज्ञानी मातृत्वशील सृजनात्मक, भद्र व सहिष्णु के रूप में स्वीकारा किया बुद्ध शिष्याओं से ऐसी महिलाएँ थी जो मानसिक व दैहिक दुखों से मुक्त होकर अर्हत बनी। कुछ भिक्षुणियों की अपनी खुद की शिष्याएँ थी जो धर्मपतिपादन में सक्षम भी बुद्ध व दूसरे भिक्षुओं की मध्यता के बिना उन्हें पूर्ण मुक्ति दिला सकती थी। बुद्ध तथा आनन्द जैसे उनकी शिष्यों का मानना था कि जाति की तरह लिंग भी किसी व्यक्ति के द्वारा दुःख से छुटकारा पाने के बौद्ध लक्षण को प्राप्त करने में बाधा नहीं हो सकता था।

इस प्रकार बुद्ध और उनके प्रिय शिष्य आनन्द ने नारी के प्रति समाज में एक सकारात्मक व क्रांतिकारी रूख रखा। बुद्ध ने नारी तथा पुरुष दोनों के लिए समान रूप से अपने बौद्ध संघ में प्रव्रजित होने के लिए द्वार खोले। इसका बुद्ध के उग्र आलोचकों ने कड़ा विरोध किया उनके अनुसार यह कदम समाज के लिए खतरनाक सिद्ध होगा। परन्तु बुद्ध के महापरिनिर्वाण के पश्चात नारी के उत्थान के लिए कदम नहीं उठे। बुद्ध जैसे महान व्यक्तित्व के अभाव में आनन्द जैसे महिलाओं के कुछ समर्थकों को संघ के भीतर तथा बाहर महिलाओं के संघ में प्रवेश के लिए विरोध का सामना करना पड़ा। इसका स्पष्ट उदाहरण राजगृह की प्रथम बौद्ध संगीति में आनन्द को दोषी ठहराकर आनन्द की कड़ी आलोचना से प्राप्त होता है। काल के उसी चक्र में बौद्ध संघ ने ब्राह्मणवाद के महिला विरोधी मत को अपनाया जिसने सदैव महिलाओं को नीच विश्वघाती, अविश्वासी, चरित्रहीन, ईर्ष्यालु, लालची आदि विशेषणों से विभूषित किया था। इस प्रकार के रूख के परिणामस्वरूप बुद्ध के महापरिनिर्वाण के पश्चात् नारी ने अस्तित्व को बहुत हानि पहुँचाई। बौद्ध साहित्य के विग्ग सुत्त में नारी को पुरुष की सम्पत्ति के रूप में प्रदर्शित किया गया है इसी प्रकार की सम्पत्ति के रूप में प्रदर्शित किया गया है इसी प्रकार का वर्णन सुल्लवग्ग सुत्त में भी प्राप्त होता है। मिलिन्द प्रश्नों में तथागत का कथन है कि एकान्त प्राप्त होने पर नारी किसी भी पुरुष के साथ विपथ हो सकती है चाहे वह अंगहीन ही क्यों न हो। परन्तु बुद्ध ने नारी का व्यक्तिगत रूप से कभी भी निरादर नहीं किया वे सदैव महिलाओं का आदर–सम्मान करने का आदेश देते थे। नारी के प्रति बुद्ध का कड़ा रूख केवल नारी की काम भावना को लेकर था। इसी कारण बौद्ध संघ में प्रवेश के समय बुद्ध ने

नारी को अट्ठ गुरु धम्मा का पालन करने का उपदेश दिया जिसके परिणामस्वरूप समाज में नारी का आदर किया जाये तथा नारी को भी एक आदरपूर्ण स्थान समाज में प्राप्त हो सके। परन्तु बुद्ध के महापरिनिर्वाण के पश्चात् बौद्ध संघ का वृहत समाज पर व उसकी गतिविधियों पर नियंत्रण न के बराबर था जबकि दूसरी और समाज बौद्ध संघ के निर्णयों को कई प्रकार से प्रभावित कर सकता था परन्तु बौद्ध संघ विभिन्न प्रकार के समर्थन के लिए समाज पर निर्भर था। बौद्ध धर्म का ब्राह्मणीकरण भारतीय समाज की महिलाओं के विकास के इतिहास में एक काला अध्याय माना जाता है क्योंकि ब्राह्मणीकरण के कारण बौद्ध संघ में भिक्षुणी संघ का अस्तित्व धीरे–धीरे क्षीण होता गया।

lUnHkZ xzUFk lwph

विनयपिटक	:	सम्पादित, एच. ओल्डेनवर्ग, पालि टैक्स्ट्रस सोसायटी, लंदन, 1879–83
थेरीगाथा	:	सम्पादक आर. पिशेल, पालि टेक्स्ट सोसायटी, लंदन 1883, नालंदा देवनागरी संस्करण, 1959
धम्मपद अट्ठकथा	:	बुद्धघोष, सम्पादित, एच.सी. नार्मन और एल.एस. तैलंग, 5 पिफल्मों में, पालि टैक्स्ट सोसायटी, लन्दन, 1906–15
धम्मपद	:	सम्पादक, टी.डब्लू., रीस डेविड्स और जे.इ. कारपेंटर, तीन पिफल्में में सम्पन्न, पालि टैक्स्ट सोसायटी, लन्दन, 1890–1911, नालन्दा देवनागरी संस्करण, तीन पिफल्मों में सम्पनन 1958
जातकट्ठकथा	:	भाग 1 काशी
तारनाथ लामा	:	भारत में बौद्ध धर्म का इतिहास ;अनुवाद रिजगिन लेन्ड्प लामाद्ध पटना 1971
पाण्डेय, गोविन्द चन्द्र	:	बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, हिन्दी समिति, 1961 उत्तर प्रदेश
राहुल सांकृत्यायन	:	पालि साहित्य का इतिहास, गुगल पुस्तक

egki tkifrxkreFkkjhxkFkk

^^c) ohj uek R;RFk] lCcl Ùkkue ÙkeA ;k e nD[k iekpfl] v¥i p cgd tuAA

''वह बुद्ध, वह वीर वह सर्वोतम प्राणी, जिसने मुझे और अन्य बहुत से प्राणियों को दुःख से मुक्त किया, उन्हें नमस्कार।''

^^lCcnD[k ifj¥kr] gr r.gk folkflrkA Hkkfork vëfMXdk eXxk] fujk/kk Qflrk e;kAA**

''मैने उनके मूल हेतु और तृष्णा को सुखा दिया है। मैंने दुःखनिरोधगामिनी आर्य अष्टागिंक मार्ग को स्पर्श किया है और उसकी भावना की है जिसके कारण सभी दुःखों को निश्चयात्मक रूप से जान लिया है।''

प्राकृतिक चिकित्सा, विपश्यना साधना और मानसिक स्थिति

Mk- l?kfe=k cks)] cks) vèèk;u foHkkx] fnYyh fo'ofo|ky;] fnYyh&110007

प्राकृतिक चिकित्सा का इतिहास उतना ही पुराना है जितना स्वयं प्रकृति। यह चिकित्सा विज्ञान आज की सभी चिकित्सा प्राणलियों से पुराना है। अथवा यह भी कहा जा सकता है कि यह दूसरी चिकित्सा पद्धतियों की जननी है।

प्राकृतिक चिकित्सा यह मानती है कि सब रोग एक है और सबकी चिकित्सा भी एक है। रोग होने का अर्थ है शरीर की स्वाभाविक स्थिति का बिगड़ जाना। ऐसा हमारे गलत रहन–सहन के कारण होता है, प्रकृति की इच्छा के विरूद्ध चलने से होता है। मनुष्य प्रकृति की संतान है, उसे भी अन्य पशुओं की तरह, जीवों की तरह जीना चाहिए। प्रकृति चाहती है कि मनुष्य श्रम करे, जैसा कि वह आदिकाल से करता आया है; भोजन, जो प्रकृति ने उसके लिए बनाया है, उसे जोड़–घटा कर दूषित न करे, शुद्ध वायु में रहे, शुद्ध पेयजल ग्रहण करे, और नींदभर सोये। पर, मनुष्य यह करता कहां हैं? फलतः उसका शरीर प्रदूषित हो जाता है, अर्थात् प्रदूषण से लद जाता है। यों कुदरत ने शरीर में ऐसे मार्ग बनाये हैं जो नित्य पैदा होने वाले प्रदूषण को निकाल दें। इन्हीं राहों से गलत रहन–सहन के कारण अतिरिक्त प्रदूषण भी निकल जाता है। पूरा न निकल सका तो वह रोग के रूप में निकलता है। उस समय भूख चली जाती है। आराम करने की इच्छा होती है, पानी–पीने की इच्छा भी बनी रहती है। यह प्रकृति का संकेत है। यदि प्रकृति के संकेत को समझकर मनुष्य चले तो शरीर शुद्ध हो जाता है और फिर प्रदूषित न करे, तो शरीर स्वच्छ और स्वस्थ बना रहता है।

इस शरीर की सीमा के भीतर ही मन काम करता है। गलत प्रकार के चिंतन से कलुषित हुआ मन हमारे शरीर को भी कलुषित कर देता है। यह कल्माष किसी विष से भी अधिक विषैला होता है। केवल मात्रा का ही अंतर होता है। मात्रा थोड़ी रहने पर मनुष्य जीता रहता है। तो स्वस्थ रहने के लिए, शरीर के लिए इंगित प्राकृतिक जीवन पर चलना चाहिए और मन को शुद्ध रखने के लिए भी उसके कुछ उपाय करना चाहिए। उपाय अनेक है।

आज से लगभग 2600 वर्ष पूर्व सिद्धार्थ गौतम ने अपने अथक परिश्रम के द्वारा प्रकृति में लुप्त विपश्यना ध्यान साधना विधि का पुनः अनुसन्धान कर बुद्धत्व का प्राप्त किया तथा बुद्ध कहलाये। विपस्सना के अभ्यास से सिद्धार्थ गौतम ने राग, द्वेष एवं मोह के आवरण का भेदन किया। समस्त संसार को संस्कृत करने वाले कार्य–कारण श्रृंखला प्रतीत्यसमुप्पाद की खोज की तथा वैश्विक सर्व कल्याण की भावना से प्रेरित लगातार 45 वर्षो तक शिक्षा बांटते रहे तथा इसे जनमानस के लिए व्यवहारिक रूप प्रदान किया।

pjFk fHkD[kko pkfjdk] cgqtu fgrk;] cgqtu lq[kk;] ykdqudEik;

vFkkZr & भिक्खुओं, बहुत जनों के हित के लिए, बहुत जनों के सुख के लिए, लोक पर दया करने के लिए विचरण करो।

वस्तुतः, ''विपश्यना'' दो शब्दों से मिलकर बना है, विपश्यना का अर्थ विशेष या गहन रूप से तथा 'पश्यना' का अर्थ है देखना अर्थात शरीर पर होने वाली पल–पल की घटनाओं को विशेष रूप से देखना। ये घटनाये संवेदनाओं के रूप में घटित होती है। संवेदना अर्थात वेदना, पाली भाषा में जिसका अर्थ होता है अनुभूति यानि शरीर पर नाना प्रकार के संवेदनाये हर पल होती ही रहती है जैसे– कभी सुखद, कभी दुखद, तो कभी अदुःखद–असुखद इत्यादि। पर जब साधक विपश्यना करते समय सजग रहकर इन संवेदनाओं के प्रति प्रतिक्रिया नहीं करता और समतापूर्वक रह करके संवेदनवाओं के अनित्य स्वाभाव को देखता है, तब उसी संवेदना के आधार पर राग–द्वेष, मोह, तृष्णादि दुख उपजता है तथा इन्ही संवेदनाओ को आधार बनाकर देखने पर दुःख का अनित्य बोध होता है, इस तरह दुःख का क्षरण होता है। इस तरह धीरे–धीरे जैसे–जैसे दुखो का क्षरण होता है वैसे–वैसे भीतर मानस में प्रशांति महसूस होती है। इस तरह ही वर्तमान में घटित संवेदनाओं को यथाभूत जानकर, प्रज्ञा जगाकर, उसके अनित्य भाव का बोध कर दुखों का नाश करता है, यही जीवन जीने की असली कला है, चूँकि प्रत्येक संवेदना का गुणधर्म होता है– ''उदय–व्यय'' यानि अनित्य। भगवान बुद्ध कहते हैः–

vfuPpk or lq[kkjk] mIikno; èkfEeukA
mif>Rok fu:>rh] rlq oqilek lq[kkAA

vFkkZr lpep! सारे संस्कार अनित्य ही तो है, उत्पन्न होने वाली सभी स्थितियां, वस्तु, व्यक्ति, अनित्य ही तो है। उत्पन्न होना और नष्ट हो जाना, यह तो इनका धर्म ही है, स्वाभाव ही है, विपश्यना साधना के अभ्यास द्वारा उत्पन्न होकर निरूद्य होने वाले इस प्रपंच का जब पूर्णतया उपशमन हो जाता है, पुनः उत्पन्न होने का क्रम समाप्त हो जाता है, उसी का नाम परम सुख है, वही निर्वाण–सुख है।

यानि शरीर और चित्त के संयोजन से जो भी संवेदना का निर्माण होता है वह कुछ समय बाद समाप्त हो जाती है, यही उसका नित्य गुणधर्म है, इस प्रकार साधक विपश्यना का अभ्यास करके वर्तमान क्षण में स्थित होकर संवेदनाओ के प्रति प्रतिक्रिया न करके उसके उदय–व्यय स्वाभाव को जानकर सारे दुखो–संस्कारों से मुफ्त हो जाता है।

स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मन का वास हो सकता है। शरीर को स्वस्थ और स्वच्छ रखना विपश्यना ही दहलीज पर पैर रखने की पहली आवश्यकता है। इसी को सार्थक करने के लिए और इसका विस्तार समझने के लिए, विपश्यना साधना प्रारम्भ करने से पहले 'पंचशील' पालन करने का व्रत लेना होते हैं। पंचशील, अर्थात – (i) झूठ नहीं बोलूंगा, (ii) चोरी नहीं करूंगा, (iii) हत्या

नहीं करूंगा, (iv) परस्त्रीगमन नहीं करूंगा, (v) मादक द्रव्यों का सेवन नहीं करूंगा। ये शील साधना की आधार–शिला है। इन शीलों का पालन करने से व्यक्ति अपने मन, शरीर और वाणी के दुष्कर्मों से बचा रहता है। मन के वशीकरण सहित इन शील–व्रतों के आधार पर कोई व्यक्ति विपश्यना का अभ्यास करने के लिए उद्यत होता है।

मनुष्य गलत या सही जो कुछ करता है, उन सबका भांडार 'चित्त' है। तो कहना होगा कि चित्त सर्वोपरि है और इसी में संचित दुष्कर्मों के परिणाम हमारे दूसरा जन्म लेने का कारण बनते हैं। यदि चित्त–शुद्धि हो जाय तब उसे बोधि की प्राप्ति कहेंगे। पर यह कार्य जन्म–जन्मांतरों में होता है। इसका आरंभ तो होना ही चाहिए और चित्त यह आरंभ मनुष्य का शरीर मिलने पर ही कर सकता है।

जो इस विधि को एक कर्मकांड न मानकर पूरी तरह ग्रहण करते और अपनाते हैं, उनका मानस शुद्ध होने लगता हैः अर्थात काम, क्रोध, लोभ, मोह जो आदमी को तड़पाते रहते हैं, निर्बल होते जाते है। ज्यों–ज्यों वे निर्बल होते हैं, मनुष्य अगाध शांति का अनुभव करता है।

विपश्यना भव–संसरण से मुक्त करने की विधि तो है ही, मस्तिष्क को पवित्र और मन को शांत करने का रास्ता भी है। यह हर व्यक्ति के लिए काभ्य है। विपश्यना की राह पर चलना इस जीवन में सुख से जीने की एक अनन्य विधि है।

भगवान बुद्ध के अमूल्य साधना विधि विपश्यना द्वारा साधक तृष्णा को जड़ से समाप्त कर लौकिक (सांसारिक गृहस्थ जीवन) और पारलौकिक सुखो (निब्बान) को प्राप्त कर सकता है, भगवान ने कहा है–

vkjkX;ijek ykHkk] lUrqf"ijes èkuA
foLlklijek ¥kfr] fuCcku ijes lq[kAA

vFkkr आरोग्य रहना परम लाभ है, संतुष्ठ रहना परम धन है, विश्वास ही परम बंधु है और निर्वाण परम सुख है,

विपश्यना साधना के व्यवहारिक प्रयोग से व्यक्ति सांसारिक जीवन में रागविहीन, द्वेषविहीन, मोहविहीन होकर सम्पूर्ण दुखो का नाश करके, सुखद जीवन जी कर अपने उत्तम लक्ष्य को साध सकता है।

विपश्यना ध्यान साधना अर्थात जीवन जीने की कला, अभी तक इस साधना पध्दति से लाखो–करोड़ो लोगों ने मुक्ति पाई है। अब हम भी इस पावन अवसर पर इस सम्प्रदायविहीन, पन्थविहीन, जाति–धर्म के परे इस शिक्षा को आत्मसात करे तथा अपने जीवन को मंगल बनाये। अंतत भगवान बुद्ध ने अपनी शिक्षा का मूलसार संक्षिप्त में इस तरह कहा–

lCc ikiLl vdj.k] dqlyLl milEinkA
lfpÙkifj;ksniu] ,r cq)ku lklukAA

vFkkr सभी पाप कर्मो (अकुशल कर्मो) को न करना, कुशल कर्मो (पुण्य कर्मो) का संपादन करना। अपने चित्त (मन) का विपश्यना के द्वारा शुद्ध करते रहना, यही बुद्धों की शिक्षा है।

इस प्रकार हम भगवान बुद्ध की व्यावहारिक शिक्षा विपश्यना को जीवन में उतारकर शील, समाधि, तथा प्रज्ञा का अभ्यास करके समूल दुक्खो का प्रहाण कर जीवन के सर्वोत्तम लक्ष्य निर्वाण, मो़क्ष, मुक्ति, परमानन्द, परमसत्य को प्राप्त कर सकते।

भगवान बुद्ध अपने अनगिनत पूर्वजन्मों के सुकर्मों के कारण बोधि का रास्ता प्राप्त कर सके। हम सौभाग्यशाली हैं कि वह विधि हमें आज ज्यों–की–त्यों मिल गयी है। भारत से तो वह लुप्त ही हो गयी थी, पर पड़ोसी देश 'म्यंमार' में इसे बड़ी ही सावधानी से सही रूप से बचाकर रखा गया। वह पूज्य श्री सत्यनारायणजी गोयन्का द्वारा 1969 के अंत में भारत लायी गयी। उनके सत्प्रयत्नों से अब तक वह भारत एवं विदेशों के लाखों व्यक्तियों को मिल चुकी है।

जो इस विधि को एक कर्मकांड न मानकर पूरी तरह ग्रहण करते और अपनाते हैं, उनका मानस शुद्ध होने लगता हैः अर्थात काम, क्रोध, लोभ, मोह जो आदमी को तड़पाते रहते हैं, निर्बल होते जाते है। ज्यों–ज्यों वे निर्बल होते हैं, मनुष्य अगाध शांति का अनुभव करता है।

विपश्यना भव–संसरण से मुक्त करने की विधि तो है ही, मस्तिष्क को पवित्र और मन को शांत करने का रास्ता भी है। यह हर व्यक्ति के लिए काभ्य है। विपश्यना की राह पर चलना इस जीवन में सुख से जीने की एक अनन्य विधि है।

lUnHkZ xzUFk

1. विनयपिटक, महावग्ग, 32, मारकथा
2. दीघनिकाय, महापरिनिब्बानसुत्तं,2.3,221
3. धम्मपद, मग्गवगो, 227
4. धम्मपद, सुखवग्गों, 197
5. महापरिनिब्बनसुत्तं
6. धम्मचक्कपवत्तनसुत्तं
7. विपश्यना विशोधन विन्यास, इगतपुरी, नासिक
8. विपश्यना पगोडा स्मारिका, ग्लोब्ल विपश्यना फाउंडेशन, मुंबई, संस्करण : 2000

The Buddhist Perspective on Women

Mayuri Dihingia, Ph. D. Research Scholar,
Department of Buddhist Studies, University of Delhi

The research paper is based on the topic Buddhist perspective on women, thereby analysing the Buddhist attitude towards women which emphasis on the status of women in ancient India and the role of Buddhism in recuperating the life of women.

In the ascetical times, men would leave their home, go to the forest and live there. Somehow, the basic idea was, living near women leads to problems, especially for men looking for some kind of spirituality. Women mean hindrance, diversion to one's pious life. Women were simply seen in the context of sensuality which meant pollution of mind and so on. Basically, a sexual conduct would lead to negativity and pollute one's thought process and deeds.

Sensual activity meant pollution and was seen the same way in religious forms of various traditions that included Hindus, Buddhist, Jain, etc. Monks were expected to strictly stay away from women. Celibacy became fundamental in the domain of religion. In Buddhism, sensual activity was one of the highest crimes that monks could commit. All kinds of means were thought to create circumstances where monks could be away from the women. One of the main reasons to leave home was that at home there are woman. The position of women in India was inferior, low. In ancient times in all patriarchal societies the birth of a girl was generally an unwelcome event. Almost everywhere the son was valued more than the daughter.[1]

In early Indian society women were looked upon as being inferior to men and were assigned lower status. They were treated at par with the untouchables and their freedom was restricted. It is observed that during their childhood they are taken care of by their parents, in youth after marriage protected by their husbands and in the old age looked after by sons. Thus, they were dependent, helpless and restricted freedom to walk on their own. In the household where there are co-wives there was conflict and jealousy. And the life of a widow was miserable and was not allowed to remarry and her life was marked by self-mortification. They are restricted in their education, religious and political freedom. They were not allowed to perform religious rites and chances of performing any meritorious deed were limited. Her birth was a burden to the family as she has to be reared by the male members.

On contrary male child were considered to be valuable as they benefited the family by earning and carrying on the family name and traditions. In the *Brahmana* literature

1 *The position of Women in Hindu Civilization*, p.1.

there is one passage observing that while the son is the hope of the family, the daughter is a source of trouble to it.[2]From the *Vedic* time downwards women have been regarded as impure during the time of confinement also.[3]In consistent Altekar states that, [4]"in his early history man is seen excluding woman from religious service almost everywhere because he regarded her as un-clean, mainly on account of her periodical menstruation.... regarded the woman as untouchable during her monthly period....The *Vedic* The Aryans also age assigned this temporary impurity of women to their taking over from Indra one third of the murder, which he incurred when he had killed *Vritra*. During this period, therefore, Hindu society has been regarding women as extremely impure and temporarily untouchable."Thus, from the above references it is seen that the attitude of the early Indian society was not favourable towards women. For instance, in the epics *Ramayana* and *Mahabharata* we observe unsympathetic behaviour towards women. If a woman was unfortunately abducted, raped or sexually harassed it becomes an issue for her acceptance and readmission into her family and society.

At the time of the Buddha's birth in 563 BC was not in a good position as it was in primeval India. Women were assigned to an honourable position in primeval India as mentioned in the Rig Veda as well as in the earliest literature of the Indo-Aryans. There were a few Rig Vedic hymns composed by women and they were highly educated and participated in religious ceremonies and political affairs. In those times she led a life of dignity and her involvement in every domain was observed. Later on, as religion lost its authenticity and became a mere mass of rituals so does the status of women degraded and was secluded from religious activity. The priestly class dominated society and assigned them with menial task, thus, confined to only household activities. Moreover, the in the Code of laws[5] of Manu, women are deprived of her religious rights and prohibited from reading the Vedas. She was deprived of her spiritual life and is that she could not attain salvation by her own merits and could not worship and perform any rite. She can attain salvation only by obeying and rendering service to her husband though he may lack morality. Manu claims that women were sinful and evil. "Neither shame nor decorum, nor honesty, nor timidity" says Manu, "is the cause of a women's chastity, but the want of a suitor alone".[6] He influenced the people of upper class and made an alteration in the attitude of males towards women where women was associated with motherhood and devoted wife.

In this context where patriarchy existed, we examine that the Buddha came out to be a social reformer, who "threw open the doors of organised religious life to women and

2 *Aitareya Brahmana,* ed., 18: *Skha hjiya krpnhi duihijyoithi putr : prme byomi.*
3 *The position of women in Hindu Civilization*, p. 185.
4 *Ibid.* p. 194-195.
5 *Laws of Manu, Sacred Books of the East,* Vol.XXV
6 *Ibid.,* IX, 10.

men alike."[7]Initially, he was reluctant to admit women into the Buddhist order but when Ananda approached on behalf of Mahaprajapati Gautami, his foster mother and aunt, he finally agreed and accepted women in the Buddhist Order on account of his respect to his mother as well as sympathy to women. His reluctance of admission of nuns may be he did not want to go against the conventions of the Indian society and he wondered what would be the reaction of the society if he tries to reform by incorporating women into the religious order who were deprived of any religious life. While admitting women into the order eight rules are imposed upon them.[8]

The attitude of the Buddha was thus sympathetic towards women and his firstly refusal for their entry did not imply his views against women. He may think that the women who is performing her household activities efficiently can get salvation their also by performing them according to the rules laid down for lay devotees.[9]Sholars have mentioned that the series of eight rules set by the Buddha for nuns that were stated to be degrading and insulting ones were actually framed from the point of view of the security of the nuns and for other purpose. The rules made by Him made the nuns dependent and this may be due to that the Buddha had already preached the monks and wanted the monks to do the same which was later misinterpreted that he made the nuns subservient to the monks. And after obtaining knowledge from the monks the nuns no longer have to be dependent and can manage on their own. In regard to the eight rules for women, in 1943, Ms. I.B. Horner, first translator of the Vinaya Pitaka into English(PTS publishing), wrote a book, "*Women in Primitive Buddhism*". According to her, the eight rules (Garudhammas) were not made by the Buddha. It was said that Buddha's mother, Prajapati Gotami was the first Bhikkhuni, and she accepted the eight restrictive rules.

The Buddha was never against women as there are many examples in the Pāli Tipitika where He repeats that gender is of no importance for spiritual paths. Some scholars states that these rules must have been added later as the Buddhist Order changed quickly with Brahmanical inspiration. Some scholars believe that the Buddha could never make a rule like the eight Garudhammas. And Mahāyāna Buddhism is closer to original Buddhism since Brahmanical context attacked more the Hīnayāna tradition. In his time he took a revolutionary stand and in this women enjoyed the right to Arhatship. Thus, he should not be judged by the standards of the twenty-first century. Women had access to education and religious life and were accorded highest position in the Buddhsit Order. In this context the names of prominent nuns like Khema, Patacara and Dhammadinna may be mentioned. And outside the order, women like Sujata, Vishakha, and Samavati all achieved positions of eminence in different spheres.[10]There are also references of women

7 *2500 Years of Buddhism*, p. 3.
8 *Vinaya Pitaka*, Vol II, p. 326.
9 vide *Lalitavistara* , p.15.
10 Anguttara, Etadagga-vagga.

made in the Therigatha, like Subha, Kisa, Gautami, Uppalavanna and Soma who have undergone renunciation and led a pious life to alleviate mundane suffering.

The Buddhist Order is open to all irrespective of caste or creed, gender or race, rich or poor and so on. According to Ambedkar, "no caste, no inequality, no superiority: all are equal. That is the Buddha stood for".[11]In consistent, Rhys Davids has envisaged that Buddhism "ignores completely and absolutely all advantage and disadvantages arising from birth, occupation or social status and sweeps away all barriers and disabilities arising from the arbitrary rules of mere ceremonial or social impurity".[12]Studies have shown that before the entry of Mahaprajapati Gautami into the order there were women lay disciples such as the mother and the former wife of Yasa. Thus women had access to religious activity and played a crucial role in the religious order. They had the right to live a pious and spiritual life and attain salvation by one's own merit. Indeed, they were not dependent and subjugated in the Buddhist community as compared to other faiths like Islam, Hinduism and Christianity.

On the other hand, it is stated in the *Chullavaga*, that the Buddha made negative comments on entry of women as it will curtail the life span of the pure religion and which would have stood for a thousand years will now not last so long, the good law will stand only for five hundred years.[13]Such remarks of the Buddha cannot be hold true as he was courteous and compassionate towards women. Another reason could be that the monks may have misinterpreted while translating and interpreting Buddha's doctrine or done purposely to dominate and control the nuns, being superior over them. As such Buddhism is a religion to alleviate the suffering of human beings both male and female and to bring peace and happiness for them. Buddha aspired for well being of both the men and female and talked about equality and thus, he cannot have negative towards women. Moreover, his attitude towards women was considerate, tolerant and mere enlightened. The Buddha tried to uplift the position of women in his time and during his period women enjoyed more freedom than in any other period. The women were given the right to live and lead a pious religious life and conduct religious activities to which they were refrained from. This proves the Buddha was great social reformer and thus, Buddhism made significant sociological contribution in ancient Indian society by opening its door, both to men and women.

The Bhikkhuni order was established with the admission of Mahaprajapati Gautami which made significant contribution by imparting knowledge among the female laities and enhancing education among them. For instance Theri Sanghamitra, the daughter of Asoka, was the first female missionary who propagated Buddhism in Ceylon and became a famous teacher of the Buddhist doctrine and established a nunnery that is Bhikkhuni

11 *The Buddhism and His* Dharma, p.301.
12 *Dialogues of the Buddha*, p. 78.
13 *Asceticism in Ancient India*, p. 219.

order in Ceylon (Sri Lanka). There are references of several nuns and female disciples in Buddhist texts who have attained salvation. Studies have shown that a prominent female lay disciple named Vishakha served the Buddha and his order and she was a prominent housewife who took keen interest in the development of the church and made lavish donations, for instance, she donated eighteen crores of golden coins to Pubbarama Vihara.[14] Vishakha helped and supported the church and took part in the activities of the church and also instructed the monks. Thus, by allowing the admission of women into the order established a dignified career among women in religious domain. A large number of women such as Dhammadinna, Sukka, Khema, Patachara and Princess Sumona and Chandi became teachers and preachers and helped in spreading Buddhism and educating the female laities. The formation of the Bhikkhuni order had led to spread of education among the women which in turn uplifted their position in society. As we have seen in pre-Buddhist time they were prohibited from religious activities, their freedom curtailed, had no access to education, their life was subjugated and their position lowered in the society but with the development of the Buddhist order that comprised of both monks and nuns transformed the position of women by according them with higher status in society, by educating them in religious and philosophical domain and so on. Women became educated and thus, bold and assertive and able to stand firmly amidst all odds in society and were potential to overcome any challenge and attain salvation.

Studies have shown that during the Buddha's time period there was social reformation where women enjoyed more freedom, great respect, authority and were treated equally with men than ever hitherto accorded them. With the development of the church that grew as an education institution helped in the emancipation of women. Thus, Buddhism raised the social status of women and made them successful in the cultural, educational and spiritual domain. The Therigatha consisting of more than five hundred stanzas or gathas and attributed to seventy one Buddhist Theris reveals the high degree of proficiency attained by women in Buddhism.During the Buddhist epoch women attained enlightenment, there position being raised to a high degree as compared to the pre-Buddhist period.

In the domestic life of patriarchal society it is seen that the desire for male offspring is very strong for performing funeral rites and more importantly for the continuance of the lineage. In Hindu society only a son can carry out the funeral rites of his father and secure future happiness of the deceased. In such a society a sonless wife is replaced by another as it is said "through a son he conquers the world and through a son's son he attains immortality."[15]As a result, the birth of a daughter caused grief and lamentation. But in Buddhism, funeral ceremony is simple and can be performed by both man and woman and future happiness does not depend on funeral rites but on the meritorious

14 *Nidana Katha*, p. 121.
15 *Laws of Manu,* IX, p. 137.

deeds of the deceased. Buddha never made any difference between men and women and treated them equally. For instance, the Buddha's advice to king Pasenadi of Kosala, who lamented in front of the Buddha that his queen, Mallika, had given birth to a daughter "a female offspring, O king, may prove nobler than a male…"[16]which was a revolutionary statement for his time, shows that Buddhism does not consider the birth of a daughter as troublesome and a matter of despair.As such Buddhism does not consider women as inferior to men and treat both the sexes as equals irrespective of the biological and physical differences. Both the sexes have potential and hold same utility in domestic life as well as spiritual life. But pragmatically it is seen that even in Buddhist societies there is a preference of male offspring even today because of patriarchy.

In the context of the institution of marriage and family, in Buddhism marriage is a secular affair not governed by religious sanctions. It is not a sacrament and the monks do not participate in it. In Buddhist communities marriage ceremonies are not of religious nature and simply marked by feasting and merry making. Monks are invited for alms and they in turn bless the couple. In the Sigalovada Sutta, the Buddha had prescribed the duties of a husband and wife: "In five ways should a wife as Western quarter, be ministered to by her husband: by respect, by courtesy, by faithfulness, by handing over authority to her, by providing her with ornaments. In these five ways does the wife minister to by her husband as the Western quarter, love him: her duties are well-performed by hospitality to kin of both, by faithfulness, by watching over the goods he brings and by skill and industry in discharging all business."[17] The Buddha commanded for reciprocity in every relationship whether it be between husband and wife, parent and child, or master and servant, with mutual rights and obligations.

It is seen in some Buddhist countries for example, Burma, Sri Lanka and Thailand that women enjoy good amount of privileges. There monopoly is vested in the family economy, socially, politically and legally. In these countries, it is observed that women are on a par with men to some extent mainly because of the presence of the intense Buddhist ethos. On contrary in the other cultures women are bound by the chains of matrimony, her voice is suppressed by the oppressive dominating male society while a man can shed his shackles easily. In Hindu culture a man had the right to remarry and replace his barren wife or in case of a sonless wife. Even the Muslim allows a man to divorce and remarry without the intervention of the court but a wife cannot divorce without the consent of her husband. On contrary, in Buddhism marriage is not bound by legal code and it can be dissolved by the individuals concerned or their families. Where there was a need for divorce due to incompatibility or other reasons than both can divorce each other by equal division of property. Further in the case of remarriage of widows and divorcees, one observes that in patriarchal society it is not an easy task as women

16 *Women in Early Buddhist Literature*, p. 8-9.
17 *Dialogues of the Buddha*, p. 181-182.

are seen as personal property of their husbands. In Buddhism death is considered as natural and unavoidable. As a consequence, a woman experiences no self-mortification on account of her widowhood. Her social status is not changed and does not suffer any moral degradation as compared to Hindu culture where she has to shave her head, wear white dress, eat plain food and shed off her ornaments. In Buddhism a widow has no religious barrier to her remarriage.[18]Even women who are divorcee are free remarry. The *Lakrajalosirita*, which provides with staunch Buddhist views, permits the remarriage of women after separation from their spouses. Therefore, it may be stated that Buddhism saved women from indignity by giving equal rights and opportunities and alleviating the miseries of widow, divorcee have, thus, raised the position of women. In Buddhist communities, women enjoy more social freedom in comparison to other communities. It is seen in early Buddhist literature that there was free intermingling of the sexes. Though nuns and monks lived in separate quarters, they were not cut off from each other. It is recorded that the Buddha had long conversation with his female disciples. This free and liberal attitude had great impact on the behaviour of both men and women in Buddhist communities.

Moreover, women dressed in best attire while visiting places of worship. For instance, Visakha visited the monastery decked up , accompanied by her maid she rendered service to the monks. Her apparels and accessories received compliments, yet the Buddhist church did not persuade her from wearing them. This is contradicts the law of Manu to whom the love of ornament by women is considered as evil and in Islam, the pious woman should hide all her beauty and ornamentation behind the veil. Buddhist women were not kept under the veil and they enjoyed more freedom and privileges. The secular nature of marriage, the right to remarry, the desegregation of the sexes and the facility to divorce and the right to own, inherit and dispose of property without any interference of the husband have in turn elevated the position of women in Buddhist societies. Buddhism encourages educational opportunities among women and participation in religious activity. Buddhism holds both men and women are capable of attaining Nirvana. Therefore, the Buddha admitted women into the order though he refused in the beginning as he feared it may create problem in the society. The Buddha gave authority to the potential nuns in the order. There were nuns marked by high degree of proficiency and efficiently preached the Dhamma.

In the Lotus sutra it is stated that Buddhahood can be attained by all sentient beings and any discrimination made against others in any way is to discriminate against your own life. The Buddha firmly asserted equality among all in a discriminatory society of his time. He stated that enlightenment can be achieved by all sentient beings laymen and laywomen, monks and nuns. Thus, women can equally attain Buddhahood. The Buddha believed in equality and reciprocal relationship leading to harmony which he mentions in

18 *Women Under Primitive Buddhism*, p.72.

the Siggalovada. He vision was that of a civilized society where all sentient beings lives a dignified life, where everyone has the right to live and live in harmony. Alleviation of suffering and provision of true happiness is the aim of the Buddha and this is possible by the means of equality.

For instance, the dragon girl in the lotus sutra portrays the ability to attain Buddhahood by any gender. Here, the dragon girl was seen as having no chance of ever attaining Buddhahood because she was a woman, was very young, and had the body of an animal, but she was the first to attain Buddhahood in her present form. Her enlightenment is significant in the declaration of human rights in a discriminatory society.

The lotus reveals that a woman has the right to realize the Truth and enjoy ultimate bliss. She has the right and ability to attain Buddhahood. A civilized society can be possible only when women are treated equally with men and women exercise equal rights and duties in life and lives in cooperation and harmony.

Buddhism, a world religion emphasises on equality, liberty and played a significant role in elevating the position of women. In early history of Buddhism, the degree of civilization attained by the Indian society was high and gave equal opportunity to women in the religious and cultural sphere. The Buddha, who was a liberal and democrat laid stress to elevate the position of women as well as that of the lower castes and brought some sort of social revolution in society. The Buddha "gave the *Dharma* to both (men and women)". Under Buddhism, more than ever before, she was an individual in command of her own life until the dissolution of the body and less of a chattal, to be only respected of she lived through and on a men. The old complete dependence in which the will never functioned but to obey, was gradually vanishing. [19]

Buddhism, in short, believed in equality of sexes. The attitude of the Buddhist towards women was therefore mere sympathetic, considerate and helpful. The path to salvation was open to women. The aim of the Buddha is to alleviate suffering of all sentient beings so that they can attain Nirvana. It can be concluded by stating that in the Buddha's time higher position was accorded to women in comparison to the later *Vedic* period.

19 *Women Under Primitive Buddhism*, p.1.

विपश्यना–साधना : मानसिक शान्ति का मूलमंत्र

Mk- nhi;dj ykek] ,lkfl,V izkQslj&lg&v/;{k] frCcrh v/;;u foHkkx]
uo ukyUnk egkfogkj] ukyUnk ¼lefo'fo|ky;½] lLdfr e=ky;] Hkkjr ljdkj

शारीरिक रोगों के साथ–साथ तथागत बुद्ध मनोरोग को भी मानते थे। मन की विशेषताएँ बताते हुए बुद्ध कहते हैं कि बुराई व झूठे मार्ग पर लगा हुआ चित्त मनुष्य को मनोरोगी बना देता है। शरीर को स्वस्थ रखने के लिए तथा मानसिक दोषों पर नियन्त्रण करने के लिए विपश्यना करना अत्यावश्यक है। विपश्यना का प्रभाव मन एवं शरीर दोनों पर पड़ता है। मानसिक रोग की उत्पत्ति काम, क्रोध, भय, ईर्ष्या, लोभ, मोह, द्वेष, हर्ष, शोक, चिन्ता आदि मनोविकारों से होती है। ये ही मानसिक दोष कहे जाते हैं।

प्राचीन काल में ऐसी मान्यता थी कि शरीर को तप द्वारा कष्ट देकर विकारों से मुक्ति पाई जा सकती है। इसी को 2600 वर्ष पूर्व लुप्त हो गयी विपश्यना विद्या को ही[1] भगवान बुद्ध ने खोज निकाला था। तथागत सम्यक् सम्बुद्ध स्वयं ही सर्वज्ञ थे और उन्होंने ध्यान एवं विपश्यना का पूर्णतः सृजन किया था।

उनके स्वयं के बुद्धचित्त से ही सद्धम्म बोधिदर्शन तथा ध्यान–साधना, विपश्यना साधना की उत्पति हुई। उन भगवान बुद्ध का चित्त ही सद्धर्म दर्शन तथा ध्यान विपश्यना साधना का स्रोत बन गया। विपश्यना साधना यथार्थ में मन की साधना है जिसके अभ्यास से मन के विकार नष्ट हो जाते हैं और मन (चित्त) स्वस्थ एवं निर्मल हो जाता है। राग–द्वेष–लोभ मन के ही रोग हैं जो विपश्यना विधि से दूर हो जाते हैं। विपश्यी साधक शारीरिक एवं मानसिक रोगों से मुक्त हो जाता है, ऐसा वर्त्तमान समय में ऐसा देखा जा रहा है।

पुरातन काल में भारत को जगत गुरू कहलाने का सौभाग्य प्राप्त था। हमारे काल में सत्य की गंगा भारत से एक बार फिर प्यासे जगत की साक्ष्य प्रभावित होने लगी है। वास्तव में विपश्यना की ध्यान–विधि एक ऐसा सरल एवं कारगर उपाय है, जिससे मन को वास्तविक शांति प्राप्त होती है और एक सुखी, उपयोगी जीवन बिताना सम्भव हो जाता है। विपश्यना के इतिहास में आचार्य सत्य नारायण गोयन्का जी का बड़ा उपकार रहा है, जो अपनी ही अमूल्य विद्या को भारतीयों के कल्याण के लिए म्यांमार से भारत में लाए थे।

विपश्यना हमें इस योग्य बनाती है कि हम अपने भीतर शांति और सामंजस्य का स्वयं अनुभव कर सकें। यह चित्त के साथ–साथ शरीर को भी निर्मल बनाती है। यह चित्त की व्यथा और इसके कारणों को दूर करती जाती है। यदि कोई इसका अभ्यास करता रहे तो कदम–कदम आगे बढ़ता हुआ अपने आपको समस्याओं से पूरी तरह मुक्त करके नितांत विमुक्त अवस्था का साक्षात्कार कर सकता है। अगर समाज में परिवर्तन लाना है तो पहले व्यक्ति स्वयं के मानसिक प्रवृति एवं शारीरिक प्रवृति को बदले। इस तरह का बदलाव सिर्फ उपदेशों एवं किताबी व्याख्यानों से नहीं लाया जा

सकता, बल्कि विपश्यना से, पंचशील के पालन से, मैत्री, करूणा आदि के पालन से मनुष्य को स्वस्थ्य बनाया जा सकता है।

विपश्यना की विधि सभी लोगों के लिए एक समान होता है। इसमें कुल, जाति, धर्म अथवा राष्ट्रीयता से इसे कोई मतलब नहीं होता है। इस प्रकार विपश्यना साधक जल्दी ही यह अनुभव करने लगते हैं कि उनके व्यक्तित्व में निखार आने लगा है।[2]

foi';uk D;k g\

विपश्यना कोई जादू नहीं है या किसी प्रकार की दवा नहीं है जो कि हमारे सिर पर चढ़ कर बोलने लगे। विपश्यना कोई मंत्र विद्या नहीं है जो कि हमें सांप–बिच्छु, भूत–प्रेत की तरह मंत्रमुग्ध रख सके। विपश्यना कोई अंधभक्ति या अंधविश्वास नहीं है, जिससे कि भावोन्माद में हम उन्मत बने रह सकें। विपश्यना भावविभोर होकर हम आत्म–विसंस्कृत बने रह सके। यह कोई चमत्कार नहीं है, जिसकी अलौकिकता से चमत्कृत होकर हम आश्चर्यचकित बने रह सकें।

विपश्यना सत्य की उपासना है, सत्य में जीने का अभ्यास है, यथार्थ क्षण में जीने का अभ्यास है, वह क्षण जिसमें भूत, भविष्य की कोई कल्पना नहीं है। विपश्यना सम्यक् दर्शन है, सम्यक् ज्ञान है, जैसा भी है उसे ठीक वैसा ही उसके सही स्वभाव में देखना समझना यही विपश्यना है।[3]

विपश्यना बुद्ध धम्म की आधारशिला है। विपश्यना द्वारा निर्वाण अर्थात् चित्त की अवस्था जीवन काल में ही प्राप्त की जा सकती है। अर्हत् अवस्था ही निर्वाण का द्योतक है, इस ज्ञान को ही विपश्यना कहते हैं। ये सभी उम्र के लोगों को, सभी तरह के व्यवसाय के लोगों को, सभी बच्चे, महिलाओं, युवाओं, व्यापारियों, मजदूरों को, कैदियों, नशेड़ी, आतंकवादियों के लिए, राजाओं, नेताओं एवं समस्त प्राणियों के लिए है। अगर संक्षेप में कहें तो विपश्यना पूरे विश्व शांति के लिए लाभदायक है। वह शारीरिक हो, मानसिक हो, आध्यात्मिक हो, ज्ञान की दृष्टि् से विपश्यना अत्यन्त उपयोगी है। बच्चे ही बढ़कर युवक बनते हैं, बचपन भविष्य की नींव होता है, इसलिए बच्चों के अच्छे संस्कार बनाने के लिए विपश्यना अत्यंत ही आवश्यक है। युवा जीवन में अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो जाती है। उनका समाधान एवं निराकरण विपश्यना के अभ्यास से ही श्रेष्ठ जीवन जिया जा सकता है। वापसी एवं अधिकारी समाज का आवश्यक अंग होते हैं और इनके व्यवहार का सीधा प्रभाव समाज पर पड़ता है मजदूर और दलित भारतीय समाज के विशाल अंग हैं। विपश्यना के माध्यम से इस अंग को भी बलशाली एवं आदर्श बनाया जा सकता है। कैदियों के लिए विपश्यना बहुत जरूरी होती है, जिससे वे अपराध से दूर हो करके आदर्श जीवन व्यतीत कर सकें। भारतीय समाज में नशाखोरी तेजी से फैल रहा है, जिससे समाज का नैतिक पतन तथा आर्थिक एवं स्वास्थ्य हानि हो रही है। नशाखोरी से मुक्ति दिलाने के लिए भी विपश्यना का अभ्यास करना आवश्यक है।[4]

आज दुनिया में एड्स, कैंसर, लीवर, पेट आदि का रोग तेजी से फैल रहा है, इसपर विपश्यना द्वारा नियंत्रण किया जा सकता है। आजकल दुनिया में आतंकवाद जोरों से फैल रहा है। आतंकवाद को विपश्यना से कम करके समाप्त किया जा सकता है। विधायकों एवं सांसदों के आचरण को नैतिक बनाने में विपश्यना प्रभावकारी भूमिका का निर्वाह कर सकती है। जनता को आदर्श बनाने

के लिए विपश्यना जरूरी होती है। आज विश्व शांति[5] गम्भीर समस्या बनी हुई है। इस समस्या का समाधान विपश्यना से किया जा सकता है, वहीं विपश्यना सुख और शांति का आधार है। भगवान बुद्ध द्वारा खोजी गई इस विपश्यना जैसी औषधि को प्राप्त करने के बाद तनावमुक्त होकर सुख–शांति की रेखाएं स्पष्टतः दिखाई पड़ती है। विपश्यना वास्तव में सभी प्राणियों के लिए, जगत के लिए कल्याणकारी होता है।

foiLluk vkj u'kk&eqfDr[6]

यद्यपि विपस्सना दुःख मुक्ति की साधना कहलाती है। कोई उसे इस दुःख की मुक्ति की साधना कहता है, तो कोई इसे उस दुःख की मुक्ति की साधना कहता है, तो कोई इसे उस दुःख की मुक्ति की साधना। कोई बीमारी के इलाज स्वरूप इसे करता है तो दूसरा इसे किसी दूसरी बीमारी के लिए 10 दिवसीय शिविर करने के बाद किसी को कोई मानसिक लाभ हो जाता है, तो किसी को कोई शारीरिक लाभ। वास्तव में विपश्यना दुख मुक्ति की साधना न होकर वास्तव में दुःख मुक्ति के मूल की औषधि है। दुःख का मूल कारण राग और द्वेष है जो विपश्यना की मदद से इस मूल से छुटकारा पाकर समता में आ जाता है। वह दुख से नहीं दुखों के मूल से मुक्त हो जाता है। इसलिए यह दुखमूल से छुटकारा पाने की साधना है। नशा भी उन दुखों की सूची में से एक है।

नशीले पदार्थों से शरीर में रासायनिक स्राव होते हैं। जिसके कारण शरीर में एक प्रकार की सुखद संवेदना होती है। नशा या आसक्ति इन्हीं सुखद संवेदनाओं के प्रति होती हैं क्योंकि यह सुखद संवेदना नशीले पदार्थों के प्रयोग करने से पैदा होती है। उन सुखद संवेदनाओं को भोगने के लिए, इनका आनन्द लेने के लिये नशा करने वाला व्यक्ति बार–बार उन पदार्थों को लेता है और उनका आदी हो जाता है। उस पदार्थ का आदी होने पर उसका वही प्रभाव पाने के लिए उस पदार्थ की मात्रा को बढ़ाना पड़ता है। जितनी अधिक मात्रा में वह पदार्थ लेता है, उतना ही अधिक दुष्प्रभाव शरीर पर होने लगता है। इसलिए जब वे विपश्यना शिविर करना चाहते हैं तो उसे एक महीने पहले इन व्यसनों को छोड़ना पड़ता है, तभी उसे शिविर करने की अनुमति मिलती है। इस शिविर को करने के बाद नशे से पैदा होने वाले उस सुखद संवेदना के अनित्य स्वभाव को जान जाते हैं और नशा करने वाला व्यक्ति को शिविर के बाद जानकारी सही और गलत का हो जाता है और वे नशे की लत में दुबारा नहीं पड़ते।

विपश्यना चिकित्सा पद्धति मानसिक बीमारी के लिए ही नहीं बल्कि आध्यात्मिक उपचार है जिसे ध्यान कहा जाता है। ये ध्यान दो प्रकार के होते हैं– समथ और विपश्यना। विपश्यना सरलतम रूप में उपयोगी एवं प्रभावशाली है जिसको करते समय शरीर एवं मन दोनों के विचलित गति को कम करती है।

1. हृदय की गति कम हो जाती है (The heart rate decreased).
2. रक्तचाप में कमी आती है (Blood pressure decreased).
3. श्वसन धीरे होती है (Respiration slow).
4. चयापचन (Metabolic) में कमी होती है।

5. आक्सीजन की खपत कम होता है (Oxygen consumption decreared).
6. कार्बन डाइऑक्साइड उन्मूलन की कमी होती है।[7]

विपश्यना तकनीकि पद्धति है। विपश्यना दो शब्दों से मिलकर बना है। यहाँ 'वि' का अर्थ है मानसिक एवं शारीरिक के तीन विशेषताओं अनिच्च, दुःख एवं अनन्त को संकेतित करना है। विपश्यना का अर्थ है सम्यक् दृष्टि का साक्षात्कार करना अथवा नाम एवं रूप के तीन विशेषताओं को सम्यक् रूप से देखना। जब व्यक्ति विपश्यना भावना करता है तो उसका उद्देश्य होता है जगत के तीन विशेषताएँ अनिच्च, दुःख और अनत्त को सही ढंग से जानना। इसे जानकर हर दुर्गुणों जैसे– कामभोग, लोभ, इच्छा, तृष्णा, घृणा, द्वेष, ईर्ष्या, आलस्य एवं अकर्मन्यता, दुःख, चिंता एवं पाश्चाताप आदि के रूप में सभी कलंक का विनाश करता है। इनमें सभी दुर्गुणों को समाप्त कर दुःख से मुक्त होने की क्षमता होती है, जब तक इन सभी आश्रवों में से एक भी आश्रव व्यक्ति में रहता है तो निश्चित रूप से विभिन्न प्रकार के दुःखों का अनुभव करता है।

विपश्यना करने के पहले साधकों को पाँच निवरणों के स्वरूप को समझना आवश्यक है। वे मुख्य बाधाएँ हैं जो हमारे मानसिक दृष्टि को छिपा लेते हैं। इनकी उपस्थिति में साधक न तो चित्त को एकाग्र करता है और ना ही ध्यान कर सकता है। ये पाँच निवरण हैं– कामछन्द, व्यापाद, छिन्नमिद, उद्धकचुक एवं विचिकिच्छ।

1. कामछन्द का अर्थ है जल जिसमें अनेक प्रकार के रंग डाले जा सकते हैं।
2. व्यापाद का अर्थ है खौलता हुआ पानी।
3. छिन्नमिद का अर्थ है कोई लगा हुआ पानी।
4. उद्धकचुक का अर्थ है, संदेह जिस व्यक्ति का मन इनसे बाधित है वह अपने प्रतिबिम्ब को नहीं देख सकता, इसलिए साधक को लाभ नहीं मिलता है और न ही दूसरे को हो सकता है दोनों को नहीं हो सकता। इसलिए साधक को ध्यान करते समय इन सभी मानसिक व्याधियों को दूर करने का स्मरण होना चाहिए।

lnHkZ xzFk&lwph&

1. विपश्यना : लोकमत, भाग, विपश्यना विशोधन विन्यास, इगतपुरी, पृ.– 15।
2. विपश्यना साधना एक परिचय, विपश्यना विश्व विद्यापीठ, धम्मगिरि, इगतपुरी– 422403, जि. नासिक, महाराष्ट्र।
3. गोयन्का, सत्यनारायण, धर्म जीवन जीने की कला, विपश्यना विशोधन विन्यास, धम्मगिरि, इगतपुरी, पृ.– 52।
4. सिंह, डा. लाल, सुख और शांति का आधार विपश्यना, सम्पादक, प्रकाशन नई दिल्ली 2009–पृ–8.
5. वही।
6. वही।
7. 143, Carbon Dioxide Elimeration Decrearcd.
8. 146, Manual of Buddhist Term, p. — 129.

अर्थ परिवर्तन का घृण्य–सिद्धांत

Mk0 ¼fHk{k½ iKkiky] 'kks/k lgk;d] ikfy fgUnh “kCndk'k] uo ukyUnk egkfogkj] ukyUnk

अर्थहीन शब्द निरर्थक होते हैं। सार्थक शब्दों के अर्थ परिवर्तनशील होते हैं। भाषा-प्रवाह में इस परिवर्तन को कुछ लोग विकार और कुछ लोग विकास भी कहते हैं। शब्दों के अर्थ में होने वाले परिवर्तन का विवेचन भारत के प्राचीन मनीषियों ने अभिधा, लक्षणा और व्यंजना द्वारा पर्याप्त रूप में किया है। व्याकरण शब्दों और अर्थों को बहुत दिनों तक बिना परिवर्तन जीवित रखता है।[1] व्याकरण शब्दों को निश्चित आकार में बांधकर रखता है, तो भाषा-विज्ञान इन शब्दों के प्रवाह की निरन्तरता को कालानुक्रम अध्ययन करता है। बोलियों में शब्द और अर्थ परस्पर सम्पृक्त रहते हैं। शब्दों से अर्थ की अभिव्यक्ति का वैज्ञानिक विवेचन अर्थविज्ञान है। आधुनिक युग में अर्थविज्ञान भाषा विज्ञान की एक स्वतंत्र विधा के रूप में स्थापित हो गयी है। अर्थ परिवर्तन के कारणों का पाश्चात्य विद्वानों ने अनेक रूपों से अध्ययन किया है। ब्रील[2] महोदय ने अर्थ में होने वाले परिवर्तन की निम्नलिखित तीन दिशाए¡ प्रतिपादित की है –

1- vFkZfoLrkj **(Expansion of meaning)**
2- vFkZladpu **(Contraction of meaning)**
3- vFkZn'kZu **(Transference of meaning)**

संक्षेप में अर्थविस्तार से यह ज्ञात होता है कि कभी कोई अर्थ कम पदार्थों की अपेक्षा अधिक पदार्थों का बोध कराने लगता है। अर्थसंकोच के कारण पहले की अपेक्षा उससे कम पदार्थों की प्रतीति कराता है तथा अर्थादेश के अन्तर्गत प्रचलित अर्थ के स्थान पर सर्वथा भिन्न अर्थ का सम्पादन करता है।

शब्द का अर्थ-तत्त्व एक मानसिक प्रक्रिया है। इसमें परिवर्तन का सम्बन्ध मानव मन से है। अतएव अर्थ परिवर्तन का कारण मानसिक है। मन का विषय धर्म है। धर्म आस्तिक और नास्तिक दो रूपों में गृहीत है। धर्म के इन दोनों रूपों में श्रद्धा का अभाव होने पर घृणा का भाव प्रस्फुटित होता है। आपसी तर्को-कुतर्को से शब्दों के अर्थ परिवर्तित हो जाते हैं। अर्थ परिवर्तन के इन मनोवैज्ञानिक कारणों में घृण्य-सिद्धान्त (ओडियम थियोलॉजिकम) मन को अतिसक्रियता के साथ प्रभावित करता है, जिसके माध्यम से धर्माचार्यो के बीच एक दूसरे की त्रुटियों के लिए घृणा के कारण शब्दों के अर्थ में परिवर्तन दिखाई पड़ते हैं। ऐसे शब्दों का सम्बन्ध धार्मिक वाद-प्रतिवाद से होता है। तथार्थ घृण्य-सिद्धान्त अर्थ परिवर्तन का वह सिद्धान्त है, जिसमें शब्दों का अर्थ धार्मिक आचार्यों को स्व-सिद्धान्तों की स्थापना एवं पर-सिद्धान्तों को निम्न-स्तरीय बतलाने के लिए किया जाता है। कालान्तर में इस परिवर्तन का मूल ढूढ़ पाना मुश्किल हो जाता है पर बची हुई सांस्कृतिक अवशेषों से इसे समझा जा सकता है। यहाँ कुछ शब्दों का अध्ययन निवेदित है, जिन शब्दों के अर्थ परिवर्तन एक निश्चित धर्म

को नीचा दिखलाने और उनके अनुयायियों के बीच घृणा पैदा करने तथा अपनी धार्मिक व्याख्याओं को स्थापित करने के लिए अर्थ बदले गये हैं। ऐसे कुछ शब्द विद्वानों के बीच प्रस्तुत हैं –

1- nokukfi; & व्याकरण में दिये गये उदाहरण और व्याख्या के आधार पर प्राचीन अभिधान ग्रन्थों में देवानांप्रिय का अर्थ मूर्ख किया गया है। अभिधान चिंतामणि में मूर्ख के पर्यायवाची शब्द के रूप में देवानांप्रिय का प्रयोग दृष्टिगत है–

''वालिशःमूढो मन्दो ...देवानाम्प्रिय जाल्मौ।''[3] हेमचन्द्र ने इस अर्थ को कात्यायन की व्याख्या से गृहीत किया है। पाणिनि ने एक सूत्र में लिखा है कि षष्टया आक्रोशे[4] अर्थात् आक्रोश अथवा घृणा प्रकट करने में षष्टी विभक्ति का लोप नहीं होता है। इसके समर्थन में चोरस्सकुलं, और राजकुलं जैसे शब्द दिये गये हैं। कात्यायन ने अलुक समास के उदाहरण में लिखा है कि ''देवानांप्रिये इति च मूर्खे'' अर्थात् देवानांप्रिय का अर्थ मूर्ख है। (वार्तिक 3900) महाभाष्यकार पतंजलि ने इस सूत्र की व्याख्या में एक कथा उद्धृत किया है[5] और कहा–''प्राप्तिज्ञो देवानांप्रिय न तु इष्टिशः।'' कैयट ने लिखा है – ''देव शब्दो मूर्खवाची। मूर्खाणां च प्रिया मूर्खा एव भवन्ति अथवा सुखासक्ततया शास्त्रे अनभियोगः अनेन प्रतिपाद्यते।''[6]

अपनी सिद्धान्त कौमुदी में भट्टो जी दीक्षित ने लिखा है कि अन्यत्र देवप्रियः जिसका तात्पर्य है कि देवानांप्रिय ¼अलुक समास½ मूर्ख अर्थ में होता है, परन्तु इससे भिन्न अच्छे अर्थ में षष्टीतत्पुरूष समास देवप्रिय हो जाता है। इस सूत्र की व्याख्या करते हुए वासुदेव दीक्षित ने कहा –''देवानामिति–वार्तिकममिदम् मूर्खः अज्ञः। दिवु क्रीडायाम देवा क्रीडासताः मूर्खाः तेषां प्रियोऽपि मूर्ख एव, मूर्ख प्रियस्यावश्यं मूर्खत्वादिति अजेर्वी इत्यत्र कैयट।''[7]

व्याकरण की इन पंक्तियों के आधार पर देवानांप्रिय का प्रयोग मूर्ख अर्थ में होता रहा। अशोक के शिलालेखों की उद्भावना के बाद मूर्ख अर्थ पर संदेह होने लगा। शिलालेखों का प्रथम पाठन जेम्स प्रिसेप द्वारा 1834–35 में किया गया। इसके बाद हुल्स ने शिलालेखों की भाषा का विस्तृत व्याकरण प्रस्तुत किया। अशोक के पश्चिमी शिलालेखों में देवानांप्रिय और पूर्वी शिलालेखों में देवनंप्रिय पाठ मिला। इन विद्वानों को देवानांप्रिय और देवानंप्रिय का अंग्रेजी या हिन्दी अनुवाद के लिए मूर्ख अर्थ असंगत पूर्ण लगा। इसलिए पाद टिप्पणी में स्पष्ट लिखा कि अवश्य ही देवानांप्रिय अशोक के लिए बुरे अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है यद्यपि कि यह शब्द अशोक के लिए ही आया है। शिलालेखों में देवानांप्रिय का मूर्ख अर्थ ग्राह्य नहीं हुआ। यथार्थ में इसका सही अर्थ देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा अशोक किया गया। अब देवानांप्रिय शब्द के अर्थ परिवर्तन के कारणों के मूल तक जाना आवश्यक प्रतीत होता है। ऐसे शब्दों के अर्थ परिवर्तन में अर्थ परिवर्तन का एक जीवन्त-सिद्धान्त सुरक्षित है और इसके उदाहरण अनेक कोश ग्रन्थों में उपलब्ध हैं, जिसके अर्थ परिवर्तन का कारण घृण्य-सिद्धान्त (ओडियम थियोलॉजिकम) ही है। अशोक एक धार्मिक राजा था। वह बौद्ध धर्म के अनुकूल अपना शासन चलाता था। पाणिनि का समय अशोक के तीन सौ वर्ष पहले विद्वानों ने निर्धारित किया है।

पाणिनि अपने व्याकरण ग्रन्थों में देवानांप्रिय का मूर्ख अर्थ में प्रयोग नहीं किया है। पाणिनी के व्याकरण ग्रन्थ अष्टध्यायी पर पतंजलि ने महाभाष्य लिखा। उस समय तक देवानांप्रिय सम्राट अशोक के लिए सम्मान पूर्वक अभिधान था। खुद पतंजलि ने अपने महाभाष्य में इस शब्द का भवत्, युष्मत के साथ एक वर्ग में रखा है, जो आदर और सम्मान पूर्वक है।

इसी समय पुष्यमित्र एक सैनिक कारवाई के तहत मौर्यवंश के अंतिम राजा वृहद्रथ की हत्या कर शुंगवंश की स्थापना की। पतंजलि पुष्यमित्र शुंग का राजपुरोहित था। अशोक की तरह पुष्यमित्र शुंग भी अपने शासन का विस्तार धार्मिक आधार पर करना चाहता था। इसलिए उसने अश्वमेघ यज्ञ करवाया, संस्कृत को पुनर्स्थापित किया। उस समय भी समाज में एक बड़ा वर्ग श्रमण धर्मावलम्बियों का था। श्रमण धर्म के अन्तर्गत जैन और बौद्ध धर्म के अनुयायी थे। उसे समूल समाप्त करने के लिए पुष्यमित्र ने घोषणा करवाई –''जो हमें एक श्रमण का सिर देगा उसे मैं सौ सोने का सिक्का दूँगा।''[8] इस प्रकार श्रमणों के साथ ब्राह्मणों का विरोध स्पष्ट था। शुंग शासन के पहले भी पाणिनि ने इस विरोध का वर्णन अपने अष्टध्यायी में किया है। उसने गो-व्याघ्र अहि-नकुल जैसे द्वन्द्व समासों के साथ श्रमण-ब्राह्मण का उदाहरण देकर दोनों के जन्मजात विरोध को स्वीकार किया है।[9]

शुंगवंश की स्थापना के साथ बौद्धों के प्रति घृणा का भाव बढ़ता गया। बौद्धों को अनेक प्रयत्नों और प्रलोभनों के बाद भी उन्हें अपने धर्म से डिगा नहीं पाने के कारण उनको मूर्ख कह कर अभिहित किया जाने लगा। कैयट ने देवानांप्रिय की व्याख्या करते हुए देव शब्द को मूर्खवाची कहा और मूर्खाणांप्रिया मूर्खा भवन्ति वाक्य के द्वारा पूर्णरूपेन देवानांप्रिय का अर्थ मूर्ख बना दिया। उस समय तक अशोक को चण्डाशोक के रूप में स्थापित कर दिया गया था। अशोक को अपने निनानवे भाईयों का हत्यारा बना दिया गया था। सम्पूर्ण बौद्ध साहित्य समाप्त कर दिये गये थे। अशोक द्वारा स्थपित 84,000 धर्म स्तूपों और उनके द्वारा लिखवाये शिलालेखों को नष्ट कर दिया गया था।

इस प्रकार देवानांप्रिय शब्द का अर्थ परिवर्तन का कारण बौद्धो के प्रति ब्राह्मणों का घृणा का भाव था, जो ऑडियम थियोलाजिकम सिद्धान्त ही कहा जायगा।

2- vlj & आज असुर का अर्थ जो सुर नहीं है अर्थात् राक्षस है। यहाँ सुर देवता वाची है और ''अ'' निषेधार्थक है। असुर सुर का विपरीतार्थक है। असुर और सुर का परस्पर विरोधी अर्थ जिन्दा अवेस्ता में मिलता है। फारसी में सुर को ही राक्षस कहते हैं, संस्कृत में असुर को। पुरा वैदिक साहित्य में असुर शब्द देवता वाची है। असुर शब्द की व्युत्पUk अहुर शब्द से हुई है। अहुर पारसी भाषा का शब्द है जिसका अर्थ देवता है। आर्यो का मूल-स्थान भारत से बाहर था। सम्भवतः उनका मूल-स्थान सिरिया-ईरान के किसी भाग में रहा होगा। यहाँ इस विवाद में जाने की आवश्यकता नहीं है। यहाँ इतना ही समझना है कि तुलनात्मक अध्ययन से मालूम होता है कि वेद और अवेस्ता के मानने वाले अपनी भाषा और धर्म में एक दूसरे के बहुत नजदीक

थे। असुर शब्द ईरानियों के प्रधान देवता अहुर मजदा के लिए प्रयुक्त होता था। इसलिए वेदो में असुर शब्द का प्रयोग देवता अर्थ में ही मिलता है। शताब्दियों तक असुर शब्द का प्राचीन प्रयोग देवता अर्थ में होता रहा। ऋग्वेद में असुर शब्द का प्रयोग कई बार हुआ है, जहाँ अच्छे अर्थ का ही भाव है।[10] आर्य भोगवादी और ऐश्वर्यवादी थे। आर्य जातियां बर्बर और लुटेरा थी। भारत आगमन के समय ऐसे असुर ¼देवता½ के प्रति मूल भारतीय लोगों के मन में घृणा का भाव होना स्वाभाविक था। इसलिए असुर अर्थात् देवता शब्द से सम्बोधित लोगों को अच्छा व्यक्ति नहीं समझा जाने लगा। इस समय असुर आर्य जातियों के लिए प्रयुक्त शब्द था। अनार्य इसे स्वीकार नहीं कर रहे थे। अनार्यो के नजर में असुर लोग बुरे थे इसलिए धीरे-धीरे असुर का अर्थ बुरा हो गया। इस बुरा अर्थ का प्रतिपादक अनार्य जातियाँ थी। अर्थ परिवर्तन का कारण ओडियम थियोलॉजिकम था। आर्यो के प्रति अनार्यो का घृणा का कारण यह था कि ये असुर (अहुर = देवता) ही मोहन-जोदड़ो, हड़प्पा, चनहुदड़ो जैसे भारतीय भू-भाग में पूर्णतः विकसित नागरिक सभ्यताओं को नष्ट कर अपना आधिपत्य स्थापित किये, इसलिए ये असुर अच्छे नहीं, बुरे थे। देवता नहीं राक्षस थे। धीरे-धीरे असुर का अर्थ राक्षस हो गया। आगे चलकर आर्य और अनार्य जातियाँ एक साथ रहने लगे, तब आर्यो के लिए प्रयुक्त बुरे अर्थ वाला सम्बोधन अनार्यो के लिए आर्यो द्वारा किया जाने लगा। इस अर्थ परिवर्तन का काल सैन्ध व सभ्यता का प्रारम्भिक काल रहा होगा, जब आर्य और अनार्य एक साथ नहीं रहते थे। एक दूसरे के घोर विरोधी थे। आगे चलकर नन्दवंश और मौर्यवंश अनार्य जातियों के वर्चस्व वाला शासन रहा। शुंगकाल में यज्ञ विरोधी होने के कारण अवैदिक (श्रमण–बौद्ध और जैन)असुर कहे जाने लगे और राक्षस का पर्यायवाची हो गया। इस समय आर्येतर अर्थात् अवैदिक कमजोर हो चुके थे और मिलजुल कर साथ-साथ रहने लगे थे, पर दोनों की सांस्कृतिक और सामाजिक परम्पराएँ अलग-अलग अपना अस्तित्व बनाये थीं। आर्य यज्ञ करते थे और अनार्य योग करते थे। असुर शब्द का अर्थ परिवर्तन में ओडियम थियोलॉजिकम का पता तब चलता है जब असुर का अर्थ यज्ञ-विध्वंसक के रूप में होने लगा। रामायण में रावण के सहयोगी मारीचि, सुबाहु, ताड़का आदि को यज्ञ-विध्वंसक के रूप में प्रस्तुत किया गया है। वहाँ यज्ञ में विघ्न डालने वाले समस्त राक्षसों का नाश कर श्रीराम उसी प्रकार सम्मानित हुए जैसे पूर्वकाल में देवराज इन्द्र असुरों पर विजय पाकर महर्षियों द्वारा पूजित हुए थे।[12]

भारत के सुदूर जंगली प्रदेशों में रहने वाले अनेक जातियों में असुर जाति आज भी अपना अस्तित्व बनाये हुए हैं। ये अपने को मूलवासी कहते है और श्रवण परम्परा के पोषक भी। इन जातियों को असुर नाम वैदिकों द्वारा दिया हुआ प्रतीत होता है। सम्भवतः उस समय तक असुर शब्द दैत्य, राक्षस, म्लेक्ष अर्थ में प्रयुक्त होने लगा था।

असुर का एक अर्थ विश्वकोश में असु+र के द्वारा किया गया है। 'असु' का अर्थ प्राण (वायु) है। ''र'' का अर्थ रमन करने वाला। इस प्रकार प्राणों में रमण करने वाला असुर है। अथर्ववेद में कहा गया है –''स्वप्नं मिमानो असुरस्स यौनो।''[13] यहाँ प्राणों में रमन करने वाला विषय विलासी अर्थ किया गया है। इसी प्रकार असुरास्त्वा न्यरनन्[14] अर्थात् प्राणविद्या का ज्ञाता।

निघण्टु में प्रज्ञा अर्थ में असु शब्द का प्रयोग है। अतः असुर का अर्थ प्रज्ञावान भी है। तात्पर्य असुर का बुरे अर्थ में प्रयोग का सम्बन्ध प्राणवायु (प्राणयाम–आनापानसत्ति) का निरन्तर अभ्यास करते रहने वाला सैन्धव प्रदेश वासी योगियों से है। उत्खनन में प्राप्त सामग्रियों से स्पष्ट हो गया है कि सैन्धव वासी योग विद्या के पारंगत योगी थी। यज्ञ करने वाले वैदिक, योग करने वाले श्रमणों को बुरे दृष्टि से देखते थे और घृणा करते थे। इस घृणा भाव से असु+र का अर्थ राक्षस हो गया। यह अर्थ अति प्राचीन है, जब आर्यो का प्रवेश भारत में हुआ था। उस समय असुर का तात्पर्य प्राणायाम जैसे योग-विद्या के पारंगत योगी से था। श्रमण अर्थ से इसकी समानता भी दृष्टव्य है। श्रमण शम् धातु से बना है जिसका अर्थ योग तथा तपस्या है।

असुर शब्द का अर्थ कम से कम दो बार अवश्य परिवर्तित हुआ है। प्रथमतः, आर्यों के देवता वाची अर्थ को अनार्यों या अवैदिकों के द्वारा बुरे अर्थ में प्रयुक्त किया गया। द्वितियतः प्राण ायाम का अभ्यासी होने के कारण असु+र के आधार पर श्रमणों के लिए प्राणों में रमण करने वाला विषय विलासी पुरूष किया गया है। श्रमण को विषय-विलासी बतलाना भी ओडियम थियोलॉजिकम है। असुर और सुर का परस्पर विरोधी अर्थ जिन्दा अवेस्ता में मिलता है। फारसी में सुर को ही राक्षस और संस्कृत में असुर को। इस अध्ययन से यह निष्कर्ष की सम्भावना है कि अर्थ परिवर्तन में घृण्य-सिद्धान्त (ओडियम थियोलॉजिकम) भी प्रभावी है।

3- Je.k & सामान्य तौर पर श्रमण का अर्थ सन्यासी समझा जाता है। बौद्ध एवं जैन साहित्य में श्रमण का अर्थ बौद्ध एवं जैन सन्यासियों के लिए प्रयुक्त हुआ है। इन अर्थों के अतिरिक्त श्रमण का अर्थ नीच, घृणित और अपकृष्ट भी प्राप्त है।[15] इन दोनों अर्थों में श्रमण का विरोध ाभासी स्वरूप है, जो भाषा वैज्ञानिकों के लिए अन्वेषण का विषय है। श्रमण शब्द के अर्थ परिवर्तन में अर्थ परिवर्तन के घृण्य-सिद्धान्त का प्रभाव दृष्टिगत होता है।

श्रमण भारत के मूलवासी थे और योगविद्या के पारंगत थे। इसके विपरीत ब्राह्मण या वैदिक भारत के बाहर के थे और यज्ञ परायण थे। आर्यों के भारत आगमन के समय भारत में यति, मुनि और योगियों का तप या साधना परायण एक वर्ग था, जिसे श्रमण कहते थे।[16] उधर आर्यों के साथ ऋषियों का एक वर्ग था, जो वेदज्ञ थे और वैदिक कर्मकाण्ड के ज्ञाता थे। वहाँ भी श्रमण का अर्थ बौद्ध एवं जैन सन्यासियों से है। श्रमण की व्युत्पत्ति शम धातु से हुआ है, जिसका अर्थ तप या साधना करना है। तपस्वी और साधक होने के कारण जैन और बौद्ध सन्यासियों के लिए श्रमण शब्द रूढ़ हो गया। ऋक्संहिता से ज्ञात होता है कि निवृत्ति परक क्लेश लक्षण तप ऋक्संहिता के सुविदित जीवन दर्शन के विरूद्ध था तथा योग जन्य सिद्धियाँ उनकी अपरिचित थी अतएव यह स्वाभाविक था कि श्रमणों का आचरण वैदिक ऋषियों को विचित्र प्रतीत होता था। शायद इन्हीं कारणों से उनलोगों ने श्रमण को नीच, घृणित और अपकृष्ट कहा जो संस्कृत शब्द कोशों में उपलब्ध है। जैन और बौद्ध साहित्य में श्रमणों के विषय में अधिक सामग्री प्राप्त होती है और इसमें संदेह नहीं रहता कि ब्राह्मण और श्रमण परस्पर विभक्त और विरोधी थे। दोनों सन्यासी थे, पर दोनों का आपसी विरोध था। उस पारस्परिक विरोध

का कारण यज्ञ और योग था। श्रमण योग कर के निर्वाण प्राप्त करना चाहते थे और ब्राह्मण यज्ञ कर के स्वर्ग की प्राप्ति करना चाहते थे। इस प्रकार के विरोध का भाव पाणिनि के सूत्रों की व्याख्या करते हुए पंतजलि ने अष्टध्यायी में व्यक्त किया है –''येषां च विरोधः शाश्वतिकः इत्यस्यावकाशः श्रमणब्राह्मणम्।''[17] पतंजलि ने श्रमण को ब्राह्मण का उल्टा माना है और दोनों में कभी न मिटने वाला वैर बताया है। पुष्यमित्र शुंग काल में वैदिक संस्कृत को संस्कारित किया गया, उसी समय श्रमण का अर्थ नीच, घृणित और अपकृष्ट किया गया प्रतीत होता है। इस अर्थ परिवर्तन का कारण घृण्य-सिद्धान्त या ओडियम थियोलॉजिकम है।

lUnHk lwph %

1. जर्नल ऑव द गंगानाथ झा रिसर्च इस्टीच्यूट, जिल्द–5, भाग–1, नवम्बर 1947 द डॉक्ट्रिन ऑव स्फोट, लेखक–के0ए0 सुब्रमनिया अय्यर पृ0– 123
2. ब्रील मिसेल, सेमॉन्टिक्स, डॉवर पब्लिकेशन आई0 एन0 सी0 न्यूयार्क, 1964
3. हेमचन्द्र, अभिधान चिन्तामणि, 5/15–16
4. पाणिनि, अष्टध्यायी, 6.3.21
5. पतंजलि, महाभाष्य, 2.4.56
6. भट्टो जी दीक्षित कृत वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी के पृ0–173 पर फूटनोट में उद्धृ, चौखम्भा सूरभारती प्रकाशन, वाराणसी।
7. वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी, वासुदेव दीक्षित की व्याख्या, चौखम्भा सूरभारती प्रकाशन, वाराणसी, पृ0 173
8. यो मे एक श्रमणशिरो दास्यामि तस्याहं दिनारशतं दास्यामि, दिव्यावदान, क्रैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, 1986, पृष्ठ - 434
9. येषां च विरोधः शाश्वतिकः इत्यस्यावकाशः श्रमण ब्राह्मणम् – पतंजलि महाभाष्य–2.4.9,
10. तमुत्वा नूनम् असुरं प्रचेतसम्, ऋग्वेद, 8.90.6
11. संस्कृत हिन्दी शब्दकोश, वामन शिवराम आप्टे,
12. स हन्त्वा राक्षसान् सर्वान् यज्ञध्नान् रघुनन्दनः ऋषिभिः पूजितस्तत्र यथेन्द्रो विजये पुरा। वाल्मीकि रामायण 1/24
13. अथर्ववेद – 19.56.1
14. अथर्ववेद – 6.109.3
15. वामन शिवराम आप्टे – संस्कृत हिन्दी शब्दकोश,
16. जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भूमिका भाग पृ0-20
17. महाभाष्य – 2.4.9. (वासुदेव शरण अग्रवाल कृत पाणिनिकालीन भारतवर्ष में उद्धृ पृ0 371) चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, 1996

egkdLl iRFkjxkFkk

^^u x.kq ijD[krk pj] foeuk gkfr lekf/k nqYYHkkA ukuk tulaxgk n[kk] bfr fnLoku x.k u jkp;AA**

''समूह के साथ विचरण न करें, उससे मन असुन्तुष्ट हो जाता है और समाधि दुर्लभ हो जाती है। अने प्रकार के लोगों की संगति दुःखदायी होती है। इस देख कर समूह की इच्छा न करें।''

Bhikkhuni in Theravada Buddhism

Phramaha Sunthorn Natasaeng, Ph.D. in Buddhist Studies, University of Delhi

Introduction

The name bhikkhuni refers to a fully ordained Buddhist nun. A woman who has taken higher ordination (upasampada) in the Buddhist monastic community. A bhikkhuni lives near the Sangha (a monastic community), learns and practices the Buddha's teaching and listens to Dhamma talks every 15 days. When the Buddha first started to teach, it was only men. His step-mother came and wanted to learn the teachings. She became the first nuns of Buddha. The origin of the *Bhikkhuni Sangha* is documented in the *Paali* canon.[1] The intent of these research is to describe Bhikkhuni in Theravada Buddhism and study of Bhikkhuni's Vinaya. We shall explore and discuss the purpose of vinaya for monastic, and the number of vinaya that apply to the various categories of offenses.

Gender

According to the Buddha's version of the origin of the human race, male and female characters emerged as a result of continuous decay of the physical world, i.e., they do not belong to the true nature of what we are. Since gender is only the external appearance of our true nature, women are enabled with an equal ability to attain the highest enlightenment.[2]

yassaetâdisamyânam ittiyâpurisassava
saveetenayânena nibbanassevasantiketi.

This is the only vehicle. Be it a woman or be it a man. The one, who takes this vehicle, can reach the peace of Nibbâna.[3]

Some people think too much about sex. Sex is no different than any other thing in the physical world. This act or that act is not good or bad, but how and why the act is conducted gives it meaning. It is not the act or action but the intent.We are all born of a mother and a father, so we are half male and half female. We are not one or the other. Culture makes these differences of male and female, not the teaching of the Buddha.

Pajapati the First Bhikkhuni

Pajapati Gotami was the Buddha's foster mother as well as his maternal aunt. When Queen Maha Maya died on the 7th day of the birth of Prince Siddattha her younger sister

1 *Cullavagga*, part 2, Buddha Jayanti Tripitaka Granthamala (BJE), (Colombo: Janarajaya, 3977), p. 472.
2 Quoted by I.B. Horner in *Women in Early Buddhist Literature,* The Wheel Publication, No. 30 (Colombo 1961). pp. 8-9.
3 SamyuttaNikaya. 1.5.6.

from that day became the queen and foster mother of the prince. The commentator gives further details of her past experiences that in one of her past lives she was born in a clansman's family in Hangsavati.[4]

Obviously, Pajapati is the first bhikkhuni nun. After the Buddha had cremated his father, King Suddhodana, he stayed at Kapilavattu city. One day Maha Pajapati Gotami, his foster mother, went to see him. She paid her respects to him, sat one side and said, "Lord Buddha, would you please give women the opportunity to be ordained in your Dhamma and Vinaya." The Buddha said to her, "Gotami, please do not be delighted with that, it is very hard to live a monastic life in the Dhamma and Vinaya." She implored the Buddha in a similar way three times, but got the same answer. She was very sad and left in tears.[5] After a while the Buddha left Kapilavattu city, and went to Vesali city. There he stayed at Kutagarasala in the forest. At that time, Maha Pajapati Gotami with many other women, shaved their heads and donned the patched-up robes of Buddha's monastic followers. They left the city and set out to find the Buddha. There Ananda saw her and asked her, after she replied to him, then Ananda said to her, "please wait for me here for a while, I am going to beg the Buddha on your behalf."

After he had said that, he went to see the Buddha, paid respect to him, sat on one side and asked him to allow women to be ordained, but he got the same answer. He then asked, "Lord Buddha, can women attain enlightenment?" The Buddha said to him, "Ananda, yes of course they can." He said, "If they can, why don't you allow them to join the Sangha? Then the Buddha said to Ananda, "Ananda, if Maha PajapatiGotami can accept the eight Garudhammas, the rules of training for a Bhikkhuni, then I will allow her to take ordination. The eight Garudhammas are;[6]

1. A female monk should pay respect to a monk and should learn and practisedhamma through life.
2. A female monk should reside in where there is a monk, learn and practisedhamma through life.
3. A female monk should listen to dhamma from a monk twice a month and should learn and practisedhamma through life.
4. A female monk should take vow from two sanghas, male and female Sanghas and should learn and practisedhamma through life.
5. When a female monk happens or intends to break the serious precepts, she should say sorry to two Sanghas and then behave or discipline herself and should learn and

4 Mrs. Rhys Davids. 1964.*"Psalms of the Sisters," Psalms of the Early Buddhists*. London: Pali text Soxiety. pp.87-88.

5 The Buddha wanted to make this occasion important and so all women would think, "To get permission to go forth into the holy life is truly very difficult; thus we shall maintain it with care and respect." (Vi. A. 3/448)

6 Horner, I. B. 1992. *The Book of the Discipline = (Vinaya-Pitaka)*. London: Pali Text Society, 1992.p.354

practisedhamma through life.

6. A female monk has to find two teachers in two Sanghas and learn from them for two years as a female novice monk before becoming a female monk and should learn and practisedhamma through life.
7. A female monk should not blame a monk at all, speak only word of wisdom, and should learn and practisedhamma through life.
8. Since having become a female monk, she should be teachable to a teacher and should learn and practisedhamma through life.

Ananda learned those eight dhammas, and went to tell Maha Pajapati Gotami what the Buddha had said. She was delighted and said to Ananda, "Venerable Ananda, I accept the eight garudhammas and I will keep them with all my life." When Ananda heard that, he went back to report to the Buddha. The Buddha said to Ananda, since she has accepted these eight dhammas, she is a Bhikkhuni in the Buddhist tradition. She became a Bhikkhuni by accepting the eight garudhammas which Ananda had brought her.

The Vinaya's Bhikkhuni

In the Buddha's time, Buddhism was usually called, "Dhamma-Vinaya" (the Doctrine and the Discipline). This means that the Dhamma-Vinaya is another name, actually the original name, for Buddhism.[7]Dhamma-Vinaya was the Buddha's own name for the religion he founded. Dhamma the truth is what he discovered and pointed out as advice for all who want to gain release from suffering.[8]According to Theravada Buddhism,the vinaya's bhikkhuni consists of 348 rules. Below is a chart of the monastic rules for the bhikkhuni.

Name	**Contained**
Pārājikādharmas	8
Sanghavasesādharmas	17
Nihsargiya-pācittiyadharmas	30
Pājitiyadharmas	166
Pratidesanīyādharmas	8
Saiksadharmas	75
Adhikarana-samathadharmas	7
Total	311

In Theravada, monks follow two hundred twenty seven (227) precepts and nuns follow three hundred eleven (311) precepts. This difference often leads to misunderstandings

7 Ven. Prayudh Payutto. *A lecture delivered in January 2529/1986 at the Fourth International Congress of the World Buddhist Sangha Council, held at Buddha's Light Vihara, Bangkok.*

8 DeGraff, Geoffrey. 2007.*The Buddhist Monastic Code I: The Pātimokkha Training Rules*. Valley Center, CA: Metta Forest Monastery. p.1

and the presumption that the Buddha did not want women to join the Order because he set up rules to fence off women right from the start. In reality monks and nuns follow similar sets of rules. As the Buddha explained to the Venerable Sariputta, the teachings of some former Buddha's lasted longer than others because they established more Vinayas and related major and minor rules for different occasions, which would become necessary when the order grew.[9]

The purpose of Vinaya

The Buddha did not set out a code of rules all at once. Instead, he formulated rules one at a time in response to events.[10]Because many monks came from difference classes[11] the ordination regulates their behavior until they are mature and can develop their own understanding. Some monks quit being monks. As some monks come to monasteries by their parents and friends[12] so they do not have a personal commitment to seeking enlightenment. The Buddha instructed that each person must develop their own way to enlightenment.

The Buddha once told Upali that there were ten reasons for his laying down the Vinaya rules they are:

1. For the excellence of the Sangha
2. For the comfort of the Sangha
3. For restraint of wavering individuals
4. For the living in comfort of wellbehaved monks
5. For restraint of any asavas belonging to these seen conditions
6. For warding off any asavas belonging to the hereafter
7. For devotion on the part of those not (yet) devout
8. For the betterment of those already devout
9. For the persistence of the true Dhamma
10. For assisting the Vinaya[13]

The main point of the Vinaya Rules is that they are rules that are for human behaviors. The only ideas that really matter is that all of the rules are represent guidance for those who wish to seek enlightenment. Throughout the history of Buddhism we see that some of the rules are about things that would be crimes in society so they certainly should not

9 Vinaya Pitaka, Vol. 1, Mahavibhanga, Part 1, No. 7

10 DeGraff, Geoffrey.2007.*The Buddhist Monastic Code I: The Pātimokkha Training Rules*. Valley Center, CA: Metta Forest Monastery. p.3.

11 There are four classes in India: Brahmans, (highest) priests and scholars ,Kshatriyas, (next) nobles and warriors, Vaisyas, (next) farmers and merchants and Sudras, (lowest) serfs and slaves.

12 Ñānamoli, and Bodhi. 2001.*The middle length discourses of the Buddha: a new translation of the MajjhimaNikāya*. Teachings of the Buddha. Oxford: Pali Text Society in Association with Wisdom Publications. p.677.

13 Vin.III.20; A.V.70

be done by monastics. The rules usually address two things, behaviors and presentation. The behaviors are don't do this or don't do that, killing, stealing, inappropriate sexual activities, tell false statements, etc. and presentation, these are the attitude expressed by the monks, begging for alms, looking downward, having a quiet talking , no harsh words, one meal a day, etc.

Conclusion

Buddhism does not consider women as being inferior to men. Buddhism, while accepting the biological and physical differences between the two sexes, does consider men and women to be equally useful to the society. The Buddha emphasizes the fruitful role the women can play and should play as a wife, a good mother in making the family life a success. This shows that in the Buddhist society the wife occupied an equal position with the husband.

Buddhism emphasizes on right, duty, role and equality of women. It includes the words of the Buddha concerned with the protection of women in direct and indirect way. By thoroughly survey all Buddhist scriptures, Buddhism refers to women in the positive way more than negative way. Buddhism has played the role on spiritual freedom of women. The Buddha has preached Dharma to both man and woman with clear understanding that the difference between male and female is meaningless and not important. By nature, all are friends in living and suffering. Feminine gender is the most honorable symbol as the mother of sons and daughters of the world.

They who yield to their desires

Down the stream of craving swim;

As we see the spider run

In the net himself hath spun.

Wise men cut the net and go

Free from craving, free from woe.

Loose all behind, between , before,

Cross thou to the other shore.

With thy mind on all sides free

Birth and death no more shalt see.

-Dhammapada, 347-8.

प्रथम बौद्ध संगीति के अध्यक्ष महाकाश्यप (ई०पू० ४८३)

Mk0 ;- d|.Myk] lgk;d ik/;kid] ,oa foHkkx v/;{k
phuh ,oa tkikuh v/;;u foHkkx] uo ukyUnk egkfogkj] ukyUnkA
ekfur fo'ofo|ky;] lLdfr e=ky;] Hkkjr ljdkj]

चीनी बौद्ध साहित्य के अनुसार महाकाश्यप का जन्म मगध प्रान्त में ''महातीथा'' नामक गाँव में एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। इन्हें चीनी भाषा में ''महोचासू'' के नाम से जाना जाता है। इनके बचपन का नाम पिप्पली कुमार था। इनके पिता का नाम कपिल और माता सुमनादेवी थी।

पिप्पली का युवा होते देख इनके माता–पिता इन्हें वैवाहिक बंधन में बाँधना चाहते थे, लेकिन पिप्पली आजीवन अविवाहित रहकर जीवन व्यतीत करना चाहते थे। जब उनके माता–पिता ने बार–बार उनसे एक सुन्दर वधू के लिए कहा तो पिप्पली ने जवाब दिया, आप लोग चिन्ता न करें, जब तक आपलोग जिन्दा रहेंगे तब तक मैं आप लोगों की सेवा करता रहूँगा। क्योंकि माता–पिता की मृत्यु के बाद वे सन्यासी का जीवन व्यतीत करना चाहते थे। फिर भी इनके माता–पिता बार–बार इनके लिये वधू लाने के लिए प्रयास करते रहे।

अंत में पिप्पली मध्यम मार्ग अपनाकर अपने माता–पिता की इच्छा को पूरी करने के लिए तैयार हो गए, परन्तु उन्होंने अपने माता–पिता के सामने एक शर्त रखी कि अगर लड़की मेरे विचार की होगी तब ही मैं शादी करूँगा अन्यथा नहीं। पिप्पली ने अपने दिल से एक सुन्दर कन्या की तस्वीर बनाई जो स्वर्णमिश्रित थी इन्होंने इस तस्वीर को अपने माता–पिता को दिखा कर कहा –

''अगर आप लोग इस जैसी सुन्दर कन्या मेरे लिए खोजते है तो मैं गृहस्थ में रहूँगा''। उनके माता–पिता ने आठ ब्राह्मणों से संपर्क किया एवं उन्हें अपने साथ पिप्पली की बनाई गई तस्वीर को देते हुए कहा कि चारों तरफ ऐसी कन्या को खोज डालो। ब्राह्मणों ने सोचा, सबसे पहले हमलोग ''मादा'' देश चले जहाँ की कन्यायें सुन्दर होती हैं। उन लोगों ने सागल नाम की कन्या को खोज लिया, जो कि उस तस्वीर जैसे ही थी। वह भद्राकपिलानी थी, जो एक धनी ब्राह्मण की बेटी थी। भ्रदा कपिलानी की उम्र 16 साल की थी, जो पिप्पली से चार साल छोटी थी। उनके माता–पिता ने विवाह के प्रस्ताव के लिए स्वीकृति दे दी। इस तरह सभी ब्राह्मणों ने लौट कर अपनी सफलता के बारे में बताया। भद्रा कपिलानी को भी विवाह की ईच्छा नहीं थी। वह भी एक धार्मिक जीवन जीना चाहती थी, फिर पिप्पली ने भ्रदा कपिलानी को संदेश भेजा कि 'भद्रा' कृपया तुम किसी अच्छे विचार वाले पुरुष से विवाह कर लो। मैं स्वयं एक संन्यासी का जीवन जीना चाहता हूँ। कृपया विवाह न करो''/पुनः भद्रा ने भी इसी तरह का खत पिप्पली के नाम से भेजा। येन–केन–प्रकारेण दोनों की शादी हो गयी। विवाहोपरान्त दोनों शय्या के बीच फूल की माला रखकर सोते थे। इस प्रकार वे

ब्रह्मचर्य का पालन करते रहे। पिप्पली के पास अपार धन–संपत्ति थी। फिर भी दोनों वर्षों तक वैरागी जीवन व्यतीत करते रहे।

एक दिन जब पिप्पली खेत पर घूमने के लिए गऐ थे उस समय किसान खेत में हल चला रहे थे। हल चलाते समय कुछ कीड़ें जमीन से निकल रहे थे, जिन्हें आकाश में विचरण करने वाले पक्षी अपना आहार बना रहे थे। इस दृश्य को पिप्पली ने स्वयं अपनी आँखों से देख कर इस पाप का उत्तरदायित्व अपने पर लिया, उसके मन में बहुत ही पश्चात्ताप, उन्होंने उसी समय सारी वस्तुएँ त्याग देने का निश्चय किया।

भद्रा भी घर में कौवों को देख रही थी, जो धूप में सूखते तिल से कीड़े खा रहे थे। उसने भी इस दृश्य से द्रवित हो गृहत्याग का संकल्प ले किया। भद्रा एवं पिप्पली के विचार समान थे। सभी धन सम्पत्ति दोनों ने दास दासियों के बीच बाँट कर दोनों आपस में एक दूसरे का बाल काट एवं काषाय वस्त्र पहन हाथ में पात्र लेते हुए घर से निकल पड़ें। पिप्पली एवं भद्रा दोनों ने साथ चलते हुए कुछ दूर जाकर सोचा कि दोनों का साथ जाना ठीक नहीं है। पुनः दोनों ने अलग–अलग दिशाओं में जाने का निश्चय किया। एक चौराहे से पिप्पली ने दाहिने तरफ एवं भद्रा ने बायें तरफ का मार्ग पकड़ लिया।

कहा जाता है कि जब दोनों पति एवं पत्नी चौराहे से अलग हुए तो धरती काँप उठी। उस वक्त भगवान बुद्ध राजगीर के वेणुवन में निवास कर रहे थे। भगवान कुछ समय बाद अपने आसन से उठ कर दूर तक गये। राजगृह एवं नालन्दा के बीच बुद्ध प्रभा फैलाकर बहुपुत्रक नाम के निग्रोध के नीचे बैठ गये।

उसी समय पिप्पली रास्ते से गुजर रहे थे। पिप्पली ने भगवान को देख जान लिया कि वे ही उनके गुरू हैं, गृह त्याग के समय ही उन्होंने संकल्प ले लिया था कि संसार में जो अर्हन्त हैं वे हैी उनके शास्ता होगे। एक दिन भगवान ने उन्हें तीन बातों का उपदेश देकर अपना शिष्य बना लिया। ''काश्यप अपने आप को इस प्रकार सुशिक्षित करो। ज्येष्ठ भिक्षुओं के प्रति, श्रामणेरों के प्रति और समवयस्कों के प्रति आदर तथा सम्मान की भावना रखनी चाहिए। जो धर्म तुम सुनोगे जो कि सब की भलाई के लिए होगा। तुम उसे सावधान होकर, कान खोल कर अपनी इच्छा से ग्रहण करोगे। शरीर के प्रति जागरूकता की कभी उपेक्षा नहीं करोगे।

राजगीर में जाकर भगवान ने अपना पुराना चीवर काश्यप को दिया एवं काश्यप ने अपना नया चीवर भगवान को प्रदान किया। काश्यप के इस महापुण्य के कारण धरती काँप गई थी। काश्यप ने आठ दिनों के अंदर अर्हन्त पद को प्राप्त किया था। कहा जाता है कि बतीस महापुरूष लक्षणों में से उनके शरीर पर छः लक्षण मौजुद थे।

भगवान ने ही उसे महाकाश्यप कहकर सर्वप्रथम संबोधित किया था। यह माना जाता है कि उनके कोसिक ''गोत्र'' के नाम पर ही उनका काश्यप नाम रखा गया होगा। पालि साहित्य में भगवान

बुद्ध के शिष्यों में बहुत से काश्यप का नाम आता है जैसा कि ऊरूवेला काश्यप, नदी काश्यप, गया काश्यप, पुराना काश्यप, कुमार काश्यप। लेकिन उन सबों में महाकाश्यप का स्थान सर्वश्रेष्ठ है।

प्रथम भेंट के दौरान ही भगवान ने अपना चीवर महाकाश्यप को दिया था इस बात से प्रतीत होता है कि उनके प्रति भगवान की बहुत आस्था रही होगी। महाकाश्यप ने इस घटना को बड़े ही स्वाभिमान के साथ याद रखा। यह कहा जाता है कि महाकाश्यप ही भगवान के पश्चात् धर्म संगीति करवायेगे, यह भगवान जानते थे। एक समय श्रावस्ती में विहार करते हुए उनके संबंध में भगवान ने कहा –

''भिक्षुओं! काश्यप चीवर से संतुष्ट रहता है, चाहे वह कैसा भी हो, वह उसकी प्रशंसा करता है। भोजन कैसा भी हो वह उससे संतुष्ट रहता है। शयनासन कैसा भी हो वह उससे संतोष रखता है। गिलान प्रत्यय जैसा भी हो वह खुशी से स्वीकार करता है। अतः भिक्षुओं यह सीखना चाहिए कि हम भी इसी प्रकार संतोष पायें।

महाकाश्यप हमेशा आदर्श जीवन व्यतीत किया करते थे। वे जंगल में वास किया करते थे। केवल भिक्षा पर ही निर्भर रहते एवं चीथड़ों का ही चीवर पहनते थे। वे समाज पर कम से कम निर्भर रह कर जीते थे। एक बार भगवान ने जब इस नियम को छोड़ने के लिए कहा तो उन्होंने इससे इनकार कर दिया। इसका कारण पूछने पर वे बोले–''मैं केवल अपने लिये ही नहीं बल्कि आने वाले भिक्षुओ का ख्याल करके ही इस प्रकार का जीवन व्यतीत कर रहा हूँ। तब भगवान ने उनकी बड़ी तारीफ की थी।

महाकाश्यप को गरीबों के प्रति अपार दया थी, वे दरिद्रों की बस्ती में ही भिक्षाटन किया करते थे। कालविलंगिक की कथा से यह स्पष्ट होता है कि वे गरीबों का कितना ख्याल करते थे।

जब भगवान का महापरिनिर्वाण हुआ था तो उस समय महाकाश्यप उपस्थित नहीं थे, वे पावा से कुशीनारा की ओर यात्रा कर रहे थे, तभी रास्ते में उन्हें जीवक मिला एवं भगवान के महापरिनिर्वाण की सूचना दी। ऐसा कहा जाता है कि भगवान की चिता में आग लगाने की कई बार कोशिश की गई सब व्यर्थ हो चला था। तभी वहाँ पर उपस्थित अर्हन्तों ने बताया कि जब तक महाकाश्यप नहीं आते तब तक चिता में आग नहीं लग सकती। वे पाँच सौ भिक्षुओं के साथ चिता–स्थल पर पहुँचे एवं उन्होंने भगवान के श्रीपाद पर अपना माथा रखकर तीन बार चिता की परिक्रमा की। उसके बाद ही चिता में आग लगी। यह मान्यता है कि राजा अजातशत्रु को भगवान की अस्थि का जो भाग प्राप्त हुआ वह महाकाश्यप द्वारा ही राजगृह में ले जाया गया था।

भगवान के चले जाने से कुछ भिक्खु शोक विलाप करने लगे वे जो कि अर्हन्त नहीं थे, रोते–विलखते भिक्षुओं को भिक्षु सुभद्र ने कहा था–''आयुष्मानों! महाश्रमण चला गया तो ठीक हो गया। वह हमेशा कहते रहे भिक्षुओं यह करो, यह न करो। अब हम जैसा चाहे वैसा कर सकेंगे।'' उसी समय महाकाश्यप ने इस शब्दों को सुनकर प्रथम बौद्ध संगीति बुलाने का निश्चय कर लिया था।

बुद्ध के महापरिनिर्वाण के तीन महीनों बाद ही महाकाश्यप की अध्यक्षता में राजगृह स्थित सप्तपर्णी गुफा में बौद्धों की प्रथम संगीति (483 ई0 पू0) में आयोजित हुई थी, जिसमें बुद्ध वचन, सद्धर्भ और संघ की आधारशिला रखी गई। आनंद एवं उपालि के सहयोग से ही बुद्ध वचनों को लिपिबद्ध किया गया जो आज ''त्रिपिटक'' के रूप में विद्यमान है। प्रथम संगीति के अवसर पर वे एक सौ बीस वर्ष के बताये जाते हैं। कहा जाता है कि वे एक सौ बीस साल तक शय्या पर नहीं सोये थे।

चीनी बौद्ध साहित्य के अनुसार अभी तक महाकाश्यप का परिनिर्वाण नहीं हुआ है। सम्प्रति वे कुकुटपादगिरी में निवास कर रहे हैं, जो कि आज बिहार राज्य में स्थित बोधगया से 60कि0मी0 की दूरी पर अवस्थित है। इस नाम का पहाड़ आजकल चीन के खुअन प्रान्त में स्थित है। चीनी में एक लोकप्रिय कहावत है –''अगर महाकाश्यप नहीं होता तो बुद्ध शासन की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

अतः हमें कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं होनी चाहिए ''अगर गौतम बुद्ध धर्मचक्रपवर्तक, सारिपुत्र धम्म सेनापति थे तो महाकाश्यप सद्धर्म के असली ध्वजवाहक थे।

इस प्रकार अपनी दूरदर्शिता, प्रभावशीलता एवं अनुशासन प्रियता के कारण ही इस महान संदेश वाहक का बौद्ध जगत् में एक अद्वितीय स्थान है।

lnHk %&

1. भद्दाकपिलानी थेरी अपदान, अपदान–बुद्धनिकाय।
2. मज्झिमनिकाय अट्ठकथा 1 347,357
3. संयुक्तनिकाय 2,220
4. अपदान
5. संयुक्तनिकाय 2,221
6. संयुक्तनिकाय, अट्ठकथा–2,130
7. कस्सपसंयुत्त–संतुट्ठ सुवं– संयुक्तनिकाय।
8. वही
9. धम्मपद अट्ठकथा 1,423
10. दीर्घनिकाय 2,163
11. महावेश परिच्छेद 3 प्र0 146 भडंत आनंद कोस्ल्यायन
12. संयुक्तनिकाय अट्ठकथा
13. दीघनिकाय अट्ठकथा
14. लौडबुद्धा इन द फुटस्टेपस–वांग
15. About 10 Disciples of The Buddha by Shing Yum Ta Shu, (Fo Kuang Shan) public 1984, 08, 03 (Chinese Books)
16. In the Footsteps of Lord Buddha by Wai Weng Kay, Public 1985, 05, 25. (Chinese Book)

बुद्ध द्वारा अछूतों एवं असहायों की धम्म दीक्षा

Mk0 dke'oj i'ln] ,e0 ,0] ih0,p0Mh0] ikLV MkDVkjy fjlp Q'yk ikIr]
uo ukyUnk egkfogkj] ukyUnk ¼ekfur fo'ofo|ky;½]

l'kh

भारत देश के राजगृह में एक सुणीत नाम का भंगी रहता था। गृहस्थों द्वारा सड़क पर फेका गया कूड़ा–कचरा साफ करना ही उसकी जीविका का साधन था। यह उसका परम्परागत पेशा था। एक दिन प्रातः काल तथागत उठे, चीवर धारण किये, और बहुत से भिक्षुओं को साथ लिये भिक्षाटन के लिए निकले। उस समय सुणीत कूड़ा–कचरा इकट्ठा कर के ढेर लगा रहा था, जिसे वह बाद में टोकरी से गाड़ी में डालने वाला था और उस गाड़ी को खींच कर ले जाने वाला ही था। तब उसने अनुयायियों सहित तथागत को आते देखा, उसका हृदय प्रसन्नता से भर गया। किन्तु साथ ही वह डर भी गया था। सड़क पर छिपने की कोई जगह न देख, उसने अपनी गाड़ी को दीवार से जा सटाया और खुद भी दीवार से सट कर हाथ जोड़ें हुए खड़ा हुआ। तथागत जब कुछ समीप आये, तो उन्होंने अमृत भरी वाणी में उसे सम्बोधित किया–''सुणीत! तुम्हारा दरिद्र जीविका का साधन क्या है? क्या तुम घर छोड़ कर संघ में प्रविष्ट हो सकते हों? सुणीत को ऐसा लगा जैसे किसी ने अमृत की वर्षा की हो। बोला–''जिस संघ में भगवान बुद्ध हैं, उसमें मैं कैसे नहीं आ सकता? कृपया आप मुझे संघ में प्रविष्ट कर लें।''

तब तथागत के श्रीमुख से निकला – ''भिक्षु आ'' इस एक बचन से ही सुणीत को प्रव्रज्या और उपसम्पदा मिली तथा वह पात्र–चीवर युक्त हो गया। गौतम बुद्ध उसे विहार ले गये तथा धर्म और विनय की शिक्षा दी–''शील, संयम और प्रज्ञा से प्राणी शुद्ध हो जाते हैं'' जब पूछा गया कि सुणीत इतना महान कैसे हो गया, तो तथागत ने कहा–''जिस प्रकार रास्ते में पड़ें किसी कचरे के ढेर पर एक सुगन्धित कमल भी उग सकता है,उसी प्रकार इस अंधे–जगत् में इस कूडें–कचरे संसार में बुद्ध–पुत्र भी प्रकाशित हो सकता है।

vNwr lkikd rFkk lfIi;

सोपाक श्रावस्ती का एक अछूत बालक था। प्रसव–वेदना के समय उसकी माँ बेहोश हो गई। उसके पति और सम्बन्धियों ने सोचा कि वह मर गई है। वे उसे श्मशान में ले गये और वहाँ उसके लिये चिता तैयार की लेकिन उस समय इतना पानी वर्षा और ऐसा तूफान आया कि चिता में आग लगा सकना असम्भव हो गया। इसलिये लोग उसे यूं ही चिता पर पड़ा छोंड़ चले गये। सोपाक की मां उस समय तक मरी नहीं थी। वह बाद में मरी। मृत्यु से पहले वह बालक को जन्म दे गई। उस बच्चे का श्मशान के रखवाले ने ही अपने बच्चे सुप्पिय के साथ लालन–पालन किया। मां की जाति के नाम पर बच्चे का नाम भी सोपाक ही पड़ गया। एक दिन गौतम बुद्ध श्मशान के पास से गुजर रहे थे। सोपाक उन्हें देखकर उनके पास चला गया। भगवान का अभिवादन कर, उसने भगवान् से

संघ में प्रविष्ट होने की आज्ञा मांगी।

उस समय सोपाक की आयु केवल सात वर्ष की थी। गौतम बुद्ध ने उसे अपने पिता की अनुमति लाने के लिये कहा। सोपाक जाकर अपने पिता को ही ले आया। पिता ने बुद्ध का अभिवादन किया और प्रार्थना किया कि उसके पुत्र को संघ में प्रविष्ट कर लें। इस बात का ख्याल न कर कि वह ''अछूत'' है, गौतम बुद्ध ने उसे संघ में प्रविष्ट कर लिया तथा उसे धर्म और विनय की शिक्षा दी। बाद में सोपाक एक स्थविर हुआ। सुप्पिय और सोपाक बचपन के साथ बड़ें हुए थे। क्योंकि सुप्पिय के पिता ने ही सोपाक का भी लालन–पालन किया था, इसलिए सुप्पिय ने भी अपने साथी सोपाक से भगवान बुद्ध के धर्म की शिक्षा ग्रहण कर ली। उसने सोपाक से ही वह प्रव्रजित करने की प्रार्थना भी की। जाति–वाद के हिसाब से सोपाक सुप्पिय भी नीच जाति का था सोपाक और सुप्पिय एक अछुत जाति का है जिसका परम्परागत पेशा श्मशान की रखवाली का था भी एक भिक्षु बन गया।

ukbZ mikfy

वापस लौटते समय नाई उपाली ने सोचा–''शाक्य प्रचण्ड स्वभाव के है। यदि मैं इन गहनों को लेकर लौटा, तो यह सोचेगा कि मैं अपने साथियों की हत्या करके और उनके गहने लेकर भाग आया। वह मेरी हत्या भी कर सकते हैं। तो मैं भी उसी रास्ते से क्यों न जाऊं जिस रास्ते से ये शाक्य कुल–पुत्र गये हैं? ''सच में मुझे पीछे–पीछे जाना चाहिये?'' नाई उपालि ने अपने से पूछा। तब उसने अपनी पीठ पर से गहनों की गठरी उतारी और उसे एक पेड़ पर लटका दिया। उसने कहा–''जिसे यह गठरी मिले, वह इसे अपनी समझ कर ले जाये।'' इसके बाद वह शाक्यों के पीछे–पीछे जाने के लिए वापस लौट पड़ा। शाक्यों ने उसे दूर से आते देखा, तो बोला–''उपालि ! तू लौट किस लिये आया हैं?

तब उसने अपने मन की बात कही शाक्य कुल–पुत्र बोले–''उपालि! तूने अच्छा किया है कि तू वापस नहीं लोटा। क्योंकि शाक्य निस्सन्देह चण्ड हैं। वे तुझे मार भी डाल सकते थे।'' वे उपालि को अपने साथ लिये वहाँ पहुँचे, जहाँ तथागत ठहरे हुए थे। वहाँ पहुँच कर उन्होंने तथागत को प्रणाम किया और एक ओर जा बैठे। इस प्रकार बैठ चुकने पर उन्होंने तथागत से निवेदन किया–

''भगवान! हम शाक्य लोग बड़े अभिमानी स्वभाव के है। यह उपालि नाई चिरकाल से हमारी सेवा करता चला आ रहा है। भगवान पहले इसे ही प्रव्रजित उपसम्पन्न करें, ताकि हम इसे अपने से बड़ा मानकर इसका अभिवादन करें। इसे हाथ जोड़कर नमस्कार करें और इस प्रकार हम शाक्यों के अभिमान में कुछ परिवर्तन आये और साथ ही अहंकार एवं घमंड चूर हो जाए।
तब तथागत ने पहले तो नाई उपालि को ही प्रव्रजित और उपसम्पन्न किया। इसके बाद उन दूसरे शाक्य–कुल–पुत्रों को भिक्षु संघ में दीक्षित किया।

lqexxy

सुमंगल श्रावस्ती का एक किसान था। वह दराती, हल और कुदाली से खेत में काम कर के

ही अपनी जीविका कमाता था। छन्न कपिलवस्तु का ही एक आदिवासी था और शुद्धोधन के ही घर का एक दास। धनिय राजगृह का रहने वाला थां वह एक कुम्हार था। कप्पत–क्रूर श्रावस्ती में ही रहता था। बदन पर चीथड़े हाथ में खप्पर लिये भीख मांगते फिरना ही उसकी जीविका का एकमात्र साधन थां उसका नाम ही पड़ गया था **phFkM&pkoy** बड़े होने पर वह घास बेच कर गुजारा करने लगा था।

इन सभी ने गौतम बुद्ध के संघ में प्रविष्ट होने की अनुज्ञा चाही। बिना उनकी अछूत जाति की ओर देखे और बिना उनके पहले के पेशे की ओर देखे गौतम बुद्ध ने सभी को संघ में प्रविष्ट कर लिया।

lqiic) d'B jkxh

एक समय गौतम बुद्ध राजगृह के वेणुवन में विराजमान थे, जहाँ गिलहरियों को दाना चुगाया जाता था। उस समय राजगृह में एक आदमी रहता था, एक कोढ़ी नाम का सुप्रबुद्ध। वह अत्यंत दरिद्र था और अत्यन्त दुःखी था। ऐसा हुआ कि उस समय तथागत बड़ें भारी जन–समूह से घिरे हुए धर्मोपदेश दे रहे थे। उस कुष्ठ रोगी सुप्रबुद्ध ने जब दूर से वह भीड़ देखी तो उसके मन में हुआ कि निस्सन्देह वहाँ लोगों को भीख बंट रही होगी। मैं भी यदि वहाँ निकट चला जाऊं तो मुझे भी खाने को कुछ न कुछ अवश्य मिल जायेगा।''

इस प्रकार कोढ़ी सुप्रबुद्ध उस भीड़ के समीप पहुंचा। वहाँ जाकर उसने देखा कि बड़े जन–समूह के मध्य बैठे तथागत धर्मोपदेश दे रहे हैं। उसने सोचा–''यहाँ भीख तो नहीं बँट रही है। यहाँ तो श्रमण गौतम का धर्मोपदेश हो रहा है। अच्छा मैं धर्मोपदेश ही सुनूं। वह निश्चय करके, एक ओर बैठ गया'' मैं भी धर्मोपदेश सुनूंगा। अपने चित्त से सभी उपस्थित लोगों के चित्त की दशा जानकर तथागत ने, सोचा इन उपस्थित लोगों में कौन है जिसे धर्मबौद्ध हो सकता है। तब तथागत ने वहीं एक ओर बैठे कोढ़ी सुप्रबुद्ध को देखा। उसे देख कर तथागत ने जाना–'इसे धर्मबोध हो सकता है।'तब उसे कोढ़ी सुप्रबुद्ध के लिए ही तथागत ने धर्मोपदेश दिया – दान– कथा, शील – कथा आदि। उन्होंने काम सुखों की तुच्छता और आस्त्रावों से मुक्ति–लाभ करने पर जोर दिया।

जब तथागत ने देखा कि कोढ़ी सुप्रबुद्ध का चित्त नरमा गया है, कमाया गया है, ऊपर उठ आया है तथा श्रद्धायुक्त हो गया है, तब जो बुद्धो की सर्वोत्कृष्ट देशना है उसका उपदेश दिया दुःख, दुःख का समुच्चय, दुःख का निरोध तथा दुःख निरोध की ओर ले जाने वाला मार्ग। जिस प्रकार एक स्वच्छ कपड़ा रंग को अच्छी तरह ग्रहण कर लेता है, उसी प्रकार उसी स्थान पर बैठे कोढ़ी सुप्रबुद्ध को विरज, विमल प्रज्ञा प्राप्त हुई। जो कुछ भी समुदाय धर्म है, वह सब निरोध–धर्म है। कोढ़ी सुप्रबुद्ध को सत्य के दर्शन हो गए। वह सत्य को प्राप्त हो गया। उसकी विचिकित्सा शान्त हो गई। उसमें विश्वास उत्पन्न हो गया। अब उसे और कुछ कारणीय नहीं रहा। वह तथागत की देशना में सुप्रतिष्ठित हो गया। तब कोढ़ी सुप्रबुद्ध अपने आसन से उठा और तथागत के समीप जाकर एक

ओर बैठ गया।

इस प्रकार बैठे हुए उसने तथागत से निवेदन किया–'अदभूत है भगवान! अद्‌भुत है। जैसे कोई गिरे को ऊपर उठा ले, छिपे को उघाड़ दे, पथ–भ्रष्ट को रास्ता दिखा दे, अन्धकार में प्रदीप प्रज्वलित कर दे, ताकि जिन्हें आँख है, वे रास्ता देख लें। इसी प्रकार भगवान् ने नाना प्रकार से धर्म की व्याख्या कर दी। मैं बुद्ध धर्म और संघ की शरण ग्रहण करता हूँ। भगवान आज से मेरे प्राण रहने तक मुझे अपना शरणागत उपासक समझें।तब तथागत की वाणी द्वारा चेतनता और प्रसन्नता को प्राप्त हुआ कोढ़ी सुप्रबुद्ध अपने स्थान से उठकर भगवान को अभिवादन कर वहाँ से विदा हुआ। अकस्मात एक दुर्घटना हो गई। एक तरुण बछड़े ने रास्ते में कोढ़ी सुप्रबुद्ध को सींग खोभ कर जान से मार डाला। गौतम बुद्ध की महानता यह थी कि लाखों–लाख अछूतों एवं शूद्रों को संघ में प्रविष्ट किये और धम्म प्रचारक बनाये जो अविस्मरणीय है और रहेगा।

lanHk xaFk

1. सुणीत थेरो, द्वादस निपातो (थेरगाथा)
2. पुप्फवग्गो, धम्मपद (4/15–16)
3. सुंगमलथेरो (थेरगाथा –पञ्चमो वग्गो)
4. कुट्ठी–सुत्तं (उद्यान 5/13)
5. चुल्लवग्ग – 7/1–2
6. सुप्पिय थेरो तथा सोपाक थेरो (थेरगाथा–चतुत्थो वग्गो) अट्ठकथा।
7. अंगुत्तर निकाय 8 :2 :1 :1
8. देखिये शार्दूल करण अपदान।

mikfyRFkjxkFkk

^^l)k; vfHkfuD[kEe] uoiCcft rk uokA feÙk Hkt;s; dY;k.k] l)k thoo vrfUnrAA**

''श्रद्धापूर्वक अभिनिष्क्रमण कर, जो तरूण नव प्रव्रजित हुआ है, वह तन्द्रा रहित हो, कल्याण मित्रों की संगति करें तथा शुद्ध आजीविका युक्त हो।''

^^l)k; vfHkfuD[kEe] uoiCcft rk uokA l?kfLe fogj fHkD[k] flD[kFk fou; cèkkAA**

''श्रद्धापूर्वक अभिनिष्क्रमण कर, जो तरूण नव प्रव्रजित हुआ है, वह भिक्षु संघ में विहार करते हुए ज्ञान पूर्वक विनय को सीखे।''

Ven. Ledi Sayadaw: The Great Pioneer of Meditation Master

Ashin Htayeinda, Research Scholar, Department of Buddhist Studies, Nava Nalanda Mahavihara, Nalanda, (Deemed University), Ministry of Culture, Government of India

Introduction

The essence of the teachings of the Buddha is liberation from the circle of life known as *Samsara* in *Pali*. What the Buddha said is that so long as not knowing the Four Noble Truths you and as well as me have to go round in the circle of life and the Buddha had discovered the ways free from suffering and exhorted the people to follow. Ven.Ledi Sayadawgyi devoted his life to serve the welfare and happiness of the people and had performed his mission accomplished in his life who imparted his knowledge and wisdom to the world. He was the renowned Buddhist scholar monk around the world.

Early childhood

Venerable Ledi Sayadaw, the great pioneer of meditation master in Myanmar (then known as Burma), was the outstanding figure of the early nineteen century. He was born to U Thun Tha and Daw Kyone in 1846 (1208 Burmese Era) in Dipayin Township, Upper Burma. The parents named their son as Maung Tet Khaung. He was the second son in a family. Joining into the Buddhist Order is a tradition in the Buddhist family of Burmese society and any boys have to be sent into a monastery for their education in their children hood by their parents. Early in life, at the age of fifteen, he became a *samanera*, a novice and he was named *Nanadhaja*, which means the banner of wisdom for he was so clever and excellent in knowledge. He could memorize every topic or scripture he was taught. He was taught not only religious scripture but also astrology for earning living in lay life. He received his monastic education under various renowned teachers. He could write many poems both in Burmese and Pali language.

Becoming a fully ordained

In Buddhist *Sangha* community, a young man can join a fully ordained monk called a bhikkhu in Pali (U Zin in Burmese) when one turned to twenty years old. Sponsored by his aunt and uncle with the eight prerequisites which are essential for becoming a monk, Shin Nana, a novice, who was known to scholars of many countries, the Late Venerable Ledi Sayadaw, was ordained under the instruction of his preceptor, Ven. Nanda.

Devoting his life to study Buddhist literature

After becoming a fully ordained monk, he devoted his life to study higher *Vinaya*

Pali, commentaries and sub-commentaries under his preceptor. While studying under his preceptor, he studied 'Tikakyaw' under Ven.Vannita and in his free time he read Dipavamsa, Mahavamsa, Culavamsa and other treaties. Knowing his disciple's insatiable interest in reading, his preceptor allowed him to read the books in his cupboards and those books were word by word *Pali*-Burmese translation called *Nissaya* in Burmese. The books were collected in five cupboards. Having read all those books, he could not quench his thirst for reading. Then, he went to another monastery in his village and read all the books collected by the high priest. Finally, he read all scripture written in palm leaves. Among those types of literature, he liked the best *Nissaya* translation. He approached to all priests who were well known in lecturing Buddhist literature. He never wasted his time and energy in life and practiced austerity called *Dhutanga*. He never committed *Vinaya* rules and followed them as the life blood.

Moving to the Capital for further studies

By the time he was fully ordained in 1866, it was in the reign of King Mindon in Mandalay, the last capital of Burma. Many young monks mushroomed to Mandalay to because there were many big learning centers in it and took part in the examination held at the Thudhama rest house. A newly ordained Ven.Nana moved to Mandalay for his further studies in 1867. He approached to *Mahajotikarama* ratanabhumsam samkyaung monastery which was situated near *Thudhamma* rest house. According to the rules set by the monastery, every monk who wanted to study at the monastery must recite Patimokkha (the 227 disciplinary rules for the monks) by heart and only if he could memorize Patimokkha he was accepted as a student. Ven.Nana could recite it so he was accepted in the learning center. But due to flocked student monks in the monastery, there was no room for him so he could not get suitable place. At that time, it was round the corner of rain retreat. He could occupy the placer where drinking water pots were kept. He was trained in Buddhist literature by the In-Charge, Ven. San kyaung Sayadaw, *Sudassana dhaja atuladhipati siripavara mahadhamma rajadhirajaguru*.

Responded the questions raised by the In-Charge

He was a bright student. It was said of him, 'About 2000 student monks attended the lectures delivered daily by the lecturer, In-Charge Sayadaw. One day the Sayadaw set in Pali twenty questions on perfections (*parami*) and asked all students to answer them. None of them except *bhikkhu Nana* could answer those questions satisfactorily. He collected all those answers and when he attained fifteen *Vassa* while staying in the same monastery as a lecturer, he published his first book called '*Parami Dipani'*, Manual of Perfection.

Actively performed at the Fifth Great Council

The Fifth Great Council was held in the Royal Palace of Mandalay and it was

patronized by King Mindon (1853-1878). The Buddhist monks who were well-versed in Tipitaka took part in it. The monks collectively recited the Three Pitaka: Vinaya, Suttanta and Abhidhamma. The monks from Sam kyaung monastery performed their duties by reciting the *Abhidhamma Pitaka*. Ven.Nana played the most important role by reciting *Kathavatthu*, the fifth treatise of the seven books of Abhidha-mma. He was cheered and greatly honored by not only the King, Min Don but also the *Sangha* as well as the people. After the Great Council, he was conferred the title of Pathamasacha, the first class lecturer for his great skill of lecturing.

Setting up a forest center

During the reign of King Thibaw, Ven.Nana became a Pali lecture and he spent sixteen years by learning and lecturing at Sam kyaung learning center in Mandalay, the capital of Burma. He came back to his native town, Monywa with his disciples three years before King Thibaw, the last king of Burma, was taken way by the British from Mandalay to Ratanagiri, India. He founded the Ledi Forest center to the northeast of the city, Monywa. He stayed in the midst of the jungle, practiced meditation and established meditation and learning center there. The monks from different parts of the country came to study under him. Ledi Sayadw followed strictly *Vinaya* rules and set a good example himself by carrying water for the monks and sweeping the compound. He also fetched water even for toilet used for all the monks staying in the compound.

Compassion to animals

After the country lost her independence in 1885, Ven.Ledi Sayadw was of the opinion that the westerns would voraciously eat meat. Slaughter houses would crop up and a lot of cattle would be killed. Realizing the importance of the preservation of cattle for agriculture in Burma, He decided to give up meat-eating so he made an extensive tour throughout the country and preached the people not to eat meat.

Pointed out the mistake Abhidhamic concepts composed by Sinhalese scholar

Ven.Ledi Sayadaw was expert in *Abhidhamma*. Every Burmese novice or monk had to learn the basic text of Abhidhamma called *Abhi-dhammathasangha* for the examination and then its commentary called Abhidhammathavibhavinitika which is known as 'Tikakakyaw' in Burma. The two books were written by Sinhalese scholars. Ven. Ledi Sayadw pointed out 230 errors found in *Abhidhammathavibhavinitika* and he corrected the mistakes and composed a new commentary called *Paramattha dipani tika*. It has become a standard reference in the filed of monastic education in Burma.

Later on, he toured in many parts of the country for the purpose of propagating the teachings of the Buddha. In towns and villages he visited he delivered various discourses to the people and organized *Abhidhamma* classes and meditation centers. He composed

Abhidhamma rhymes of *Abhidhamma sankhitta* and taught them to his *Abhidhamma* classes. In some of the principal towns he spent rain retreat imparting *Abhidhamma* and *Vinaya* education to the lay devotees. Some of the Ledi meditation centers are still existing and still famous.

Compiling Dipani (manual) books

During his itinerary he wrote many essays, letters, poems and manuals in Burmese and *Pali*. He has written more than seventy manuals known as *Dipani* in Burma. Many of his works were translated into English.

Conferred the title

Ledi Sayadaw was awarded the title of *Aggamahapandita* by the Government of India in 1911. Later, the University of Rangoon conferred on him the degree of D.Litt. (honoris causa). In the later years he settled down at Pyinmana where he died in 1923, at the ripe age of 77.

Conclusion

Ven. Nanabhivamsa known as Ledi Sayadwa around the world had served Buddhism in his time and he was really the great benefactor for Buddhists because he introduced the meditation methods taught by the Buddha in various ways and means. In addition, he wrote hundred plus treatises called *Dipani* (manual) in line with what the Buddha had taught, disseminating the true knowledge of the Dhamma in the process. His meditation methods have been applying from his time up to date. He produced many mediation instructors such as Anagam Saya That Kyi, U Bha Khin and later on S.N. Goenkagyi, the well known meditation teacher around the world and who reintroduced the meditation technique into India again and who had set up many meditation centers in the world. Ven. Ledi Sayadawgy was really the great pioneer meditation master who torched the light of the Dhamma to the world.

Reference:

Ledi Ven.Vannita. Ledimahatherappattikatha,
U Aung Mon, The Life and Work of Ven. Ledi Sayadawgyi, Myatsumon Publication, Yangon.
Ledi U Hla Paing, Lediganthawinkyaw,
Hla Tha Main, The History of the famous persons in Burma, Hanthawaddy Press, Yangon,1981.
U Htay Hlaing, Arahant and noble persons,
Kyaw Nanda Aung, Ven. Ledi Sayadaw, Aungsitthi Press, Yangon.

धम्मपद में अभिधम्म के तत्त्व

fi;d; d;ekj] 'kks/k Nk=] ikfy foHkkx] uo ukyUnk egkfogkj] ¼ekfur fo'ofo|ky;½

बौद्ध साहित्य का सबसे लोकप्रिय ग्रंथ धम्मपद है। धम्मपद दो शब्दों से मिलकर बना हुआ है– धम्म एवं पद। धम्म शब्द संस्कृत साहित्य के धर्म का पालिरूपान्तर है। बौद्ध साहित्य में साधारणतया धम्म शब्द का प्रयोग सदाचार के अर्थ में हुआ है और पद शब्द का अर्थ मार्ग ^^iekn~k ePpq~k in~** अर्थात् धम्मपद का अर्थ धर्म का मार्ग है। दूसरे अर्थों में पद शब्द का अर्थ वाणी या वचन होता है जैसे–^^/kEein~ l~nfl r~] d;l~ ikQfeu ipLlfr~** अर्थात् धम्मपद का अर्थ भगवान बुद्ध के सदाचार सम्बन्धी उपदेश या वचन है। सुत्तपिटक के खुद्धकनिकाय के अंतर्गत दूसरा ग्रंथ धम्मपद है जो 26 वग्गों में विभक्त है और गाथाओं की कुल संख्या 423 है।

भगवान बुद्ध के महापरिनिर्वाण के तीन माह बाद स्थविर महाकाश्यप ने राजगृह में एक धम्म सभा का आयोजन किया जिसमें 500 अर्हत् भिक्षुओं ने भाग लिया। इस संगीति में स्थविर महाकाश्यप ने कहा ^^/kEe~ p fou;~ p l~xk;~;~ke**[1]A इसमें धम्म शब्द का तात्पर्य अभिधर्म से था। धर्म ही अभिधर्म के रूप में विकसित हुआ और उसी का विश्लेषण, विभाजन और वर्गीकरण बाद में किया गया। अट्ठकथाकार बुद्धघोष ने अभिधर्म को बुद्धवचन कहा है। इसे प्रमाणित करने के लिए उन्होंने कहा कि भगवान बुद्ध ने प्रथमतः अभिधर्म का उपदेश तावतिंस लोक में अपनी माता को लगातार तीन माह तक विस्तार पूर्वक अभिधर्म का उपदेश किया[2] और फिर मानसरोवर के पास महाप्रज्ञ शिष्य सारिपुत्र को दिया और सारिपुत्र ने अपने 500 शिष्यों को अभिधर्म की शिक्षा दी। इस प्रकार आचरिय शिष्यानुक्रम से यह देशना लोक में अवतरित हुआ।

अभिधर्म अथवा उच्चतर ज्ञान की उत्पत्ति तो उसी रात्रि में हो गई थी जिस रात भगवान बुद्ध ने बोधि प्राप्त की। उनकी बोधि और कुछ नहीं अभिधर्म ही है। जिसमें दुःख के मूल कारण तृष्णा को दूर करने के लिए जिस मार्ग पर चलना है उसके आठ अंगों को दिखाया गया है[3]। इसी में अभिधर्म के परमार्थ धर्म चित्त, चेतसिक, रूप आदि का वर्णन समाया हुआ है। चार आर्य सत्यों के वर्णन द्वि तीय आर्य सत्य का परिज्ञान तभी संभव है जब प्रतीत्यसमुत्पाद का परिज्ञान हो।

धम्मपद के 26 वग्गों में उच्च धर्म की बातें कही गई है। बौद्ध चिन्तक कायिक एवं वाचिक संयम का आधार मन को मानते हैं। इसलिये धम्मपद के पहली गाथा में मन की विशिष्टता बताते हुए कहा गया है कि ''प्राणी का मन उसके सभी कायिक, वाचिक एवं मानसिक धर्मों का अग्रगामी है, मन ही उनका नियन्ता है अतः उसके सभी कर्म मनोमय है।'' यमक वग्ग की गाथाओं में मन सभ्भी धर्मों की गंगोत्री है कुशल या अकुशल धर्मों को प्रवृत्त करता है अर्थात् सभी धर्म मन से निःसृत होते हैं।

^^eukiqCkMXek /kEek eukl VBk euke;kA
eulk p ilUuu Hkklfr ok djkfr okA
rrk u l[keUofr Nk;k o vuikf;uh[4]AA

मनुष्य तीन कायिक कर्म से, चार वाचसिक कर्म से और तीन मानसिक कर्म से जो भी कुछ करता है या सोचता है। इन दस कुशल कर्मों से उत्पन्न सुख मनुष्य का उसी तरह पीछा करता है जैसे छाया मनुष्य का पीछा करती है।

चित्त वग्ग में चित्त के चंचल स्वभाव का वर्णन किया गया है, यह किसी विषय को लेकर पुनः–पुनः उत्पन्न होता है और निरूद्ध होता है। इसके इस उत्पन्न और निरूद्ध होने वाले रूप को लक्ष्य कर कहा जाता है कि यह चित्त अविच्छिन्न प्रवाह रूप है। जिस प्रकार वायु संसर्ग से सरिता में उमियाँ उत्पन होती है, निरूद्ध होती है तथा उत्पन्न एवं निरूद्ध होते हुए भी एक प्रवाह को बनाये रखती है, उसी प्रकार यह चित्त भी प्रतिक्षण नये–नये विषय को लेकर उत्पन्न और निरूद्ध होते हुए भी उत्पाद एवं निरोध के साथ एक चित्त परम्परा बनाये हुए रखता है।

^^QUnu piy fpÙk njD[k nqfUuokj;A
mt djkfr e/kkoh ml dkjk o rtu[5]AA

संयुक्त निकाय में चित्त की तुलना बन्दर से की है[6]। जिस प्रकार एक बन्दर किसी वृक्ष पर बैठा हुआ सर्वदा एक शाखा से दूसरी शाखा की ओर छलांग लगाता रहता है। और अपने चंचल स्वभाव का परिचय देता है, ठीक उसी प्रकार यह चित्त भी अनवरत नये–नये विषयों के साथ आसक्ति उत्पन्न करता हुआ अत्याधिक चंचल स्वभाव का परिचायन करता है।

पण्डित वग्ग में बुद्धिमान मनुष्य पाप का परित्याग करके शुक्ल धर्म (पुण्य) का आचरण करते हुए गृहत्याग कर अपनेकामनाओं का त्याग कर अकिंचन बनकर वह रत रहने की इच्छा करें तथा चित्त के क्लेशों से अपने आपको परिशुद्ध कर चित्त सम्बोधि के अंगों में भली प्रकार से अभ्यस्त होकर अपने चित्त के मैल को विनष्ट कर दिया हो ऐसे मनुष्य निर्वाण को प्राप्त करते हैं

^^;s l lckf/k;MXk lEek fpÙk lqHkkforA
vnkuifVfuLlXxk vuqiknk; ;s jr[7]AA

अरहन्त वग्ग में अर्हत् अपने मन वचन एवं कर्म को शान्त रखकर सभी इन्द्रियों को शान्त रखता है। जिसका मार्ग समाप्त हो चुका है, जो मुक्त हो गया हो जो वीतराग है जिन्होंने सभी तृष्णाओं को नष्ट कर दिया हो वह अर्हत् है। अरहन्त निर्वाण को जानने वाला होता है, सभी बन्धनों को काटने वाला है जो अवकाश रहित है और जिन्होंने सभी चित्त के मल को धो दिया हो वही अर्हत् है। अर्हत् व्यक्ति का यह अन्तिम जन्म होता है इसके बाद उनका कोई जन्म नहीं होता है

^^vLl)k vdr´´p lf/kPNnk p ;k ujkA
grkodkLk oUrkLk l o mÙkeifjlk[8]AA

बुद्ध वग्ग में तृष्णा को जालिनी कहा गया है। तृष्णा सभी चित्त विकारों के जाल में बँधी हुई सी है, यह स्वयं जाल बनाने में समर्थ है तथा जाल के समान है अतः इसको जालिनी कहा गया है। यह रूपादि आलम्बनों में विष स्वभाव वाली चित्त को विषाक्त करने वाली, विष फैलाने वाली, विष का फल देने वाली विषपुष्पलता के समान तथा परिणाम में भी विष की तरह कार्य करने वाली होने के कारण ''विषात्मिका'' भी कहलाती है[9]। उदाहरण के लिए जिस प्रकार मकड़ी अपने ही जाल को बुनती है और अपने ही जाल में बँधी रहती है। ठीक उसी प्रकार लोग तृष्णा से उत्पन्न नाना प्रकार के विषयों से राग उत्पन्न करते हुए राग के बन्धन में फँसा हुआ रहता है।

^^;Ll tkfyuh folfÙkdk] r.gk ufRFk dfg´p uroA
rs c)euUrxkpjs vins dus inu uLlFk[10]AA

पिय वग्ग में तृष्णा से किस प्रकार शोक और भय उत्पन्न होते हैं और तृष्णा के न रहने पर किस प्रकार शोक और भय से मुक्त हो जाती है। इसकी चर्चा की गई है।

^^r.gk; tk;rh lkdk] r.gk; tk;rh Hk;A
r.gk; foliesÙkLl] ufRFk lkdk dqrkHk;[11]AA

दुःख का वास्तविक हेतु तृष्णा है जो बारम्बार प्राणियों को उत्पन्न करती है। विषयों के राग से युक्त है तथा उन विषयों का अभिनन्दन करनेवाली है। तृष्णा तीन प्रकार की होती है। कामतृष्णा, भवतृष्णा और विभवतृष्णा।

कोध वग्ग में क्रोध से मुक्ति पाने के लिए काय संवृत, वची संवृत और मनसा संवृत होने का उल्लेख किया गया है। जो बुद्धिमान व्यक्ति होता है वह काय से प्राणातिपात अदिन्नदाना मिथ्याचारा अकुशल (दुश्चरित) कर्म न करते हैं, वाणी से मृषावादा, पिशुनावाचा, फरूषावादा, सम्फलापवादा कर्म न करते हैं और मन से अमिध्या, व्यापाद, मिथ्यादृष्टि से विरत रहते हैं। ये सभी कर्म लोभ, दोस और मोह के कारण होते हैं।

^^dk;su lao`rk /khjk vFkks okpk; lao`rkA
eulk lao`rk /khjk rs o lqifj lao`rk[12]AA

मल वग्ग में राग को अग्नि, द्वेष को ग्रह मोह को जाल और तृष्णा को नदी के रूप में बताया गया है।

^^ufRFk jkxlek vfXx ufRFk nkslek xgkA
ufRFk ekgle tkys ufRFk r.gk;l;k unh[13]AA

संसार में राग के समान कोई अग्नि नहीं है। वह प्राणी को जलाने के बाद भस्म भी नहीं छोड़ती

है। राग हर समय प्राणी को जलाते रहता है। कभी पत्नी की चाह, तो कभी धन की चाह तो कभी किसी विषय को पाने की चाह। यह कभी खत्म ही नहीं होता है। यह हमेशा जलते रहता है। द्वेष के समान ग्रह नहीं है। द्वेष के कारण चित्त को शान्ति चली जाती है उनका मन हमेशा विचलित होते रहता है। मोह के समान कोई जाल नहीं है। और तृष्णा के समान कोई गहरी नदी नहीं है। आदमी की पाने की ख्वाहिश कभी खत्म नहीं होती है एक वस्तु के मिल जाने पर दूसरी वस्तु की ख्वाहिश होती है। यह नदी की तरह प्रवाहित हो रही है मनुष्य इसकी गहराई में डूबता जा रहा है।

मग्ग वग्ग में सभी संस्कारों को अनित्य, दुःख एवं अनात्म कहा गया है। ^^lCc lq[kkjk vfuPpk fr] lCc lq[kkjk nqD[kkfr lCc /kEek vuÙkkfrAA**[14] भगवान बुद्ध ने बड़े मार्मिक शब्दों में कहा है कि जो अनित्य है, वह दुःख है वह अपना (अत्ता) नहीं हो सकता। फिर उसमें चित्त को फँसाकर दुःख को क्यों बढ़ाया जाय? वह तो विपरिणामी धर्म है, निरन्तर बदलेगा। उसमें चित्त को लगाकर हम दुःख के अलावा परिणाम प्राप्त नहीं कर सकते। वह सभी कुछ जिसमें आत्मा नहीं होती है अथवा वह जो अपने आप में आत्मा का स्वरूप नहीं है, जो अपने वश में नहीं है उसे अनात्म कहते हैं[5]। अर्थात् वह धर्म जो आत्मा नहीं है रूप, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान नामक पाँच स्कंध जिनके आत्मा जैसा कोई धर्म प्राप्त नहीं होता है अनात्म स्वभाव वाले धर्म है।

भगवान बुद्ध द्वारा प्रोक्त समस्त त्रिपिटक के ग्रंथ समूह में धम्मपद ही एक ऐसा ग्रंथ है जिसकी एकाकी अभ्यास ही किसी भी साधक को निर्वाण तक पहुँचाने की क्षमता रखता है। धम्मपद के सुत्तों के अध्ययन तथा विश्लेषण करने से यह बात स्पष्ट हो जाता है कि इनमें अभिधम्म के तत्त्व भरे पड़े हैं। संक्षेप में मेरा यह प्रतिपाद्य रहा है कि धम्मपद के सुत्तों में अभिधम्म के बीज बिखरे पड़े हैं। इन्हीं सुत्तों के आधार पर इनमें पाये जाने बाले अभिधम्म के तत्त्वों का वर्णन किया गया है।

lanHkZ xzaFk

1. पालि साहित्य का इतिहास, पृ0–443
2. अट्ठसालिनी, पृ0–9
3. महावग्गपालि, पृ0–1
4. धम्मपदं, पृ0–1
5. वही0, पृ0–15
6. संयुक्तनिकाय (भाग–2), पृ0–506
7. धम्मपदं, पृ0–43
8. धम्मपदं, पृ0–50
9. धम्मपद–अट्ठकथा (भाग–3), पृ0–1275
10. धम्मपदं, पृ0–100
11. वही0, पृ0–125
12. धम्मपदं, पृ0–131
13. वही0, पृ0–136
14. धम्मपदं, पृ0.145

''वैश्विक आतंकवाद के समाधान में बौद्ध अहिंसा''

l;"kek Jh] 'kk/k&Nk=k] ck) v/;;u foHkkx] uo ukyUnk egkfogkj] ukyUnkA

आतंकवाद विश्व की ज्वलंत समस्या है, जिसका समाधान एक बड़ी चुनौती है– विश्व समुदाय के लिये। आतंकवाद मानवता और सभ्य समाज के लिए एक बड़ा कलंक है। आतंकवाद 'आतंक' शब्द से बना है, जिसका अर्थ है– ''रोब, दबदबा, प्रताप, भय, आशंका अर्थात् बहुत ही कठोर व्यवहारों, अत्याचारों, प्रकोपों आदि के कारण लोगों के मन में उत्पन्न होने वाला भय''।[1] इन्हीं सिद्धान्तों के अपनाना आतंकवाद है,[2] और जो इन सिद्धान्तों के आधार पर लोगों को आतंकित करता है[3] वह आतंकवादी है।

आतंकवाद वह शब्द है, जिसका ना कोई धर्म है और ना हि जाति। यह सिर्फ आतंक के बल पर कायम एक व्यवस्था है, जो मानव मस्तिष्क पर हावी होता जा रहा है। यह एक ऐसा माहौल है जो अपने आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक एवं विचारात्मक लक्ष्यों की पूर्त्ति के लिए गैर–सैनिक अर्थात् नागरिकों की सुरक्षा को निशाना बनाते हैं। आज आतंकवाद से निपटने के लिये सरकार द्वारा अनेक उपाय किये जा रहे हैं। पुलिस बल बढ़ाया जा रहा है। आधुनिक हथियार खरीदे जा रहे हैं। जगह–जगह लोगों की जाँच पड़ताल की जा रही है; किन्तु आतंकवाद थमने का नाम नहीं ले रहा है। एक धर्म के लोगों को दूसरे धर्म के लोगों पर से विश्वास खत्म होता जा रहा है। आपस में एक दूसरे को संदेह की दृष्टि से देखा जा रहा है। जब सभी धर्मों का सार एक ही है, तो ऐसा क्यों? सरकारी, धार्मिक संगठनों एवं सामाजिक संगठनों द्वारा लिये गये सभी प्रयास निष्फल होते नजर आ रहे हैं, क्या कारण है? अमेरिका जैसा शक्तिशाली देश भी आतंकवाद से भयभीत है। आतंकवाद को जड़ से खत्म करना है तो आतंकवाद की जड़ को समझने की आवश्यकता है। आतंकवाद की जड़ मनुष्य के अन्दर होती है। मनुष्य के मस्तिष्क में होती है। वह ईर्ष्या और द्वेष से पीड़ित मन के अन्दर होती है अतः इसके नियंत्रण के प्रयास बाह्य नहीं आंतरिक होने चाहिए।

हिंसा से ग्रस्त जिस समाज को बुद्ध ने अहिंसा, करूणा, मैत्री और भाईचारे का संदेश दिया उसी मार्ग–सन्देश को लेकर गांधी जी ने भी भारत भूमि पर अहिंसा का झंडा फहराया।

भगवान् बुद्ध और महावीर आदि महापुरूषों ने अहिंसा के महत्त्व को समझा, उसकी राह पर चले और इसके अनुभवों के आधार पर दूसरों को भी इस राह पर चलने को कहा। अहिंसा की पहचान उनके लिए सत्य के साक्षत्कार के सामान थी। अहिंसा का अर्थ है किसी प्राणी को मन, वचन, कर्म

1 लोकभारतीय प्रमाणिक हिन्दी कोश, रामचनद्र वर्मा, लोक भारती प्रकाशन, 1996, पृश्ठ सं.– 76।

2 वही– 76।

3 वही– 76।

से हिंसा न करना। भगवान् बुद्ध ने पंचशील के आधार पर हिंसा के मूल मार्ग को बताया है, ये हैं– 1. अहिंसा, 2. सत्यभाषण, 3. अस्तये, 4. ब्रह्मचर्यपालन एवं 5. मद्यपान का निषेध। इन पांच नियमों को पंचशील कहा जाता है।

इस पंचशील का प्रथम भाग है ''अहिंसा'', अर्थात् किसी भी तरह से, कभी भी, किसी भी प्राणी के प्रति, चित्त में द्रोह न करना, अहिंसा है। हिंसा तीन प्रकार की होती है– शारीरिक हिंसा, मानसिक हिंसा तथा आध्यात्मिक हिंसा। किसी प्राणी को शारीरिक कष्ट प्रदान करना शारीरिक हिंसा है तथा मानसिक कष्ट देना मानसिक हिंसा होती है। अंतःकरण को मलिन करना आध्यात्मिक हिंसा होती है। इन तीनो प्रकार की हिंसाओं को न करना अहिंसा है।

जब हम हिंसा के प्रकारों को देखते हैं तो हमे आतंकवाद की वह हिंसा समझ आ रही है जो वह समाज और देश के साथ करता है। आतंकवाद परिपूर्ण रूप से हिंसा पर आधारित है। यह भी देश को शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक रूप से हानि पहुँचाता है। आतंकवाद को खत्म करना अर्थात् हिंसा को खत्म करना है और जब तक हिंसा भाव मनुष्य के मानस पटल पर हावि रहेगा वो अच्छे और बुरे का फर्क नहीं कर पायेगा। अहिंसा का विचार अति सूक्ष्म है। इसको समझना सर्वसाधारण के लिये बहुत कठिन हो जाता है। अगर हम यह समझ जाये कि– ''जैसा व्यवहार आप दूसरों से चाहते हैं, वैसा व्यवहार दूसरों के साथ करें तथा जिस व्यवहार को दूसरों से नहीं चाहते है, वैसा व्यवहार दूसरों के साथ न करें तब जाकर हम अहिंसा के सही मतलब को समझ सकते है। जिस व्यक्ति के मन में प्राणिमात्र के हित का भाव सदा रहेगा उससे तो हिंसा हो ही नहीं सकती। विश्व के सब राष्ट्रों का कर्त्तव्य है कि वे अपने–अपने राष्ट्र के व्यक्तियों को अहिंसा की ठीक शिक्षा बचपन से ही प्रदान करें। इसी में मानव का हित है। भगवान बुद्ध के यह पाँच उपदेशों को हम व्यवहार के रूप में समझे न कि किसी आज्ञा के रूप में यह ऐसा अभ्यास है जिसका विकास करके ध्यान, ज्ञान और दया को पा सकते है।

भगवान बुद्ध ने स्त्री एवं पुरूष दोनों को समान योग्यता एवं अधिकार का पात्र समझा है। उनके अनुसार एक मानव का दूसरे मानव के साथ व्यवहार मानवता के आधार पर होना चाहिए न कि जाति, वर्ण, लिंग आदि के आधार पर। आज समाज में जो वैश्विक रूप से समस्याएं विद्यमान है उसमें हर जगह एक दूसरे के प्रति भेद–भाव, लोभ, मोह, दोष, इत्यादि मूल कारण भरे पड़े है, जिसका बाह्य रूप से नहीं आंतरिक रूप से निराकरण करना होगा और यह निवारण सिर्फ भगवान बुद्ध की शिक्षाओं के द्वारा सभंव है जिनके हर उपदेश में एवं हर शिक्षा में प्राणि हिंसा जैसे तत्त्व नहीं है। उनकी शिक्षाओं का सार ही है शील, समाधि एवं प्रज्ञा, जो मनुष्य के चित्त को निर्मल बनाता है। वर्षावास भी भगवान् बुद्ध ने प्राणियों को हानि से बचाने के लिए बताया है।

भगवान् बुद्ध ने मानव जगत् से दुःख के कारणों को समझा एवं हमारे समक्ष प्रस्तुत किया जिसे हम आर्य सत्य कहते है, वे चार है– दुःख, दुःख समुदय, दुःख निरोध एवं दुःख निरोध का मार्ग।

धम्मपद में भी कहा गया है कि ''सत्यों में चार आर्यसत्य श्रेष्ठ है''।[4] भगवान् बुद्ध के, धर्म और संघ के शरण शांति और सन्मार्ग की राह पर ले जाते हैं जिसे धम्मपद में भी बताया गया है कि ''जो बुद्ध, धर्म और संघ की शरण में गया है वह मनुष्य दुःख, दुःख की उत्पति, दुःख का विनाश अर्थात् निर्वाण और निर्वाण की ओर ले जाने वाले श्रेष्ठ अष्टांगिक मार्ग चार आर्य सत्यों को अपनी बुद्धि से देख लेता है।''[5]

आज जो मानवीय क्रुरता को हम देख रहे हैं, जिसे हमने आतंकवाद का नाम दिया है, वह भी दुख है। आतंकवादी दूसरों को कष्ट पहुंचा कर उसमें अपनी सुख देखता है। जहां हम अहिंसा अपनाने की बात करते रहे हैं, आतंकवाद के मूल में हीं हिसा भरी पड़ी है। वस्तुतः उसने सारे अच्छे अर्थों के विपरीत दृष्टिकोण से परखा है जैसे– दुःख हमारे अंदर है जिसे मिटाकर हम आत्म शांति प्राप्त करते हैं। वहीं आतंकवाद के दृष्टिकोण से यह दुःख का अंत दूसरों के प्राणों के अंत होने पर होता है। इसी दृष्टिकोण को हमें बदलना है, बौद्ध शिक्षाओं के माध्यम से।

यह दुःख निरोध का मार्ग 'आर्य अष्टांगिक' मार्ग है, जिसे मध्यम मार्ग भी कहते हैं।

''यह सम्यक सम्बुद्ध द्वारा गवेषित वह मध्यम मार्ग है जो कि आंखे खोल देने वाला एवं विशिष्ट ज्ञानदायक है तथा शांति, अभिज्ञा, बुद्धत्व एवं निर्वाण की तरफ बढ़ाने वाला है।[6]

यह मध्यम मार्ग जीवन जीने की सम्पूर्ण कड़ी है। इसमें प्रथम सम्यक् दृष्टि से तात्पर्य है कि जो मनुष्य प्राणि हिंसा, लोभ, दोष, मोह से विरत रह कर चार आर्य सत्यों को जान ले वही दृष्टि सम्यक् दृष्टि है। मिथ्या दृष्टि अर्थात् गलत धारणाओं से पूरी तरह मुक्त होना ही सम्यक दृष्टि है। अज्ञान वश हम लोभ, दोष एवं मोह के जाल में फंसे रहते हैं एवं सही गलत का फैसला नहीं कर पाते हैं इसी को दूर करना ही सम्यक दृष्टि है।

भगवान बुद्ध ने सारे नियमों को इतना क्रमबद्ध कर समाज को दिया कि वे सारे एक दूसरे के पूरक लगते हैं, जैसे– सम्यक दृष्टि के बाद दूसरा है सम्यक संकल्प जिसको भगवान बुद्ध ने तीन प्रकार से बताया है नैष्कर्म्य संकल्प, अव्यापाद संकल्प एवं अविहिंसा संकल्प।

जब हम सम्यक् दृष्टि को अपनाते हुए आगे के मार्ग पर बढ़ेगें तो हम संकल्प भी अपनी बुद्धि के बल पर सही लेगें। तत्पश्चात 'सम्यक्–वाक, जब हम सही संकल्प लेगें तब हम सही बोलेंगे भी, चौथा है सम्यक् कर्मान्त जिसका तात्पर्य है सन्मार्ग पर चलकर हिंसा, चोरी, व्यभिचार (फिर वह भले ही किसी भी कैसी भी परायी स्त्री के साथ क्यों न हो) को छोड़कर अहिंसारत रहता है। दूसरे से दी हुई चीजों को ही ग्रहण करता है, बलपूर्वक नहीं एवं सभी प्रकार के व्यभिचार से दूर रहता है, यही सम्यक् कर्मान्त है। अगला है सम्यक आजीविका, जो यह दर्शाता है कि अपनी जीविका को किसी

4 धम्मपाद एक परिचय, तारा राम, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008, सच्चानं चतुरो पदा ..... गाथा स.– 273।

5 धम्मपद, गाथा संख्या– 190।

6 महावग्गपालि, स्वामी द्वारिकादास षास्त्री, वाराणसी, 2013, ''महाखन्धकं'', पृ.– 18।

की हानि की कसौटी पर न किया जाए। जब हम अच्छा भोजन करेग तो हम सम्यक् व्यायाम की ओर अग्रसर होते है। तत्पश्चात सम्यक् स्मृति, जो हमे पूर्व छः राहों से गुजरने के बाद स्मृतिववान बनाता है। अंतिम मार्ग है सम्यक् समाधि अर्थात् चित्त की एकाग्रता जब हम कुशल चित्त से मन को एकाग्र करते हैं तो यह समाधि कहलाती है।

भगवान बुद्ध के शिक्षाओं की कड़ी एक दूसरे से जुड़ी हुई है। मध्यम मार्ग में शील, समाधि एवं प्रज्ञा समाहित है। अतः मध्यम मार्ग को पालन करने से सारे विकार खत्म हो जाते हैं।

कोई भी बुराई, समाज की तब बन जाती है जब वह मनुष्य की बुराई बन जाती है क्योंकि समाज वही है जो हम बनाते हैं। अगर हम अपने अंदर बुराईयों को भरकर अकुशल कर्म करते है तो हम एक बुरे समाज की स्थापना करते है। वहीं हम शिक्षित और शीलवान होकर एक कुशल समाज की भी स्थापना कर सकते हैं।

आज आतंकवादी को नहीं आतंकवाद को हटाने कि जरूरत है जो मानव के मस्तिष्क में एक बुराई बन कर बैठा है। भगवान बुद्ध ने बुराई को हटाया, ना कि समाज से मनुष्यों को। यह जो शील, समाधि एवं प्रज्ञा है हमारे आतंरिक स्वरूप को निखारते है। प्रज्ञा एक व्यवहारिक प्रयोग है जिसके आधार पर हम अपनी आत्मशुद्धि कर सकते है। शील, समाधि के पथ पर चलते हुए हम प्रज्ञा के पथ पर आते हैं और विपस्सना के अभ्यास को अपनाते है। विपस्सना क्या है? विपस्सना एक सरल, सजीव एवं वैज्ञानिक साधना पद्धति है। यह स्व अनुभूति की, स्व–शुद्धि की, सत्य को देखने परखने की तथा इसी जन्म में अच्छा परिणाम देने वाली साधना पद्धति है। विपस्सना मनुष्य के मन में व्याप्त विकारों को दूर करने का सबसे बड़ा अचूक, सटीक एवं वैज्ञानिक साधना व माध्यम है। विपस्सना भावना के अनवरत अभ्यास से आंतकवाद को समूल नाश किया जा सकता है। आतंकवाद को जड़ से समाप्त करने के लिये विपस्सना ध्यान को भी समझने को आवश्यकता है।

आतंकवादी का अपना मनोविज्ञान होता है। कोई इसे विकृत मानसिकता वाला मनुष्य मानते हैं तो कोई इसे आतंकवादी बताते हैं। मनोवैज्ञानिकों की दृष्टि में वह एक ऐसा समाजिक कार्यकर्त्ता है, जो अपना रास्ता भटक गया है। विपस्सना उसे भटके हुए रास्ते से सामाजिक रास्ते पर लाती है। सामाजिक रास्ते पर लाने के लिए संवाद की आवश्यकता होती है। यह संवाद, समाज और आतंक के बीच होने की आवश्यकता है। संवाद वाद और विवाद के बीच होने की आवश्यकता होती है। आखिर वाद और विवाद के बीच से ही तो संवाद निकलाता है। जब इस प्रक्रिया में कहीं बाधा आ जाती है, तो उसी का परिणाम होता है– विस्फोट।

मन को इसी तरह की समता चाहिए, जो कि विपस्सना से ही आ सकती है। विपस्सना के सहारे हम अपनी आंतरिक अशुद्धियों को पूर्ण रूपेण मिटा सकते हैं और इसके सहारे हम अपनी अकुशल तत्वों को खत्म कर सकते है। विपस्सना का अर्थ ही है सूक्ष्मतापूर्वक अपने अंदर देखना। इस साधना का मुख्य लक्ष्य चित्त की शुद्धि करना है। इसके माध्यम से कोई भी साधक राग, द्वेष, भय, मोह, लालच आदि विकारों, दैनिक जीवन के तनावों और मानसिक बंधनो से मुक्त हो जाता है।

जब मानव मस्तिष्क में समाज को बदलने की भावना आ जाएगी और वह अहिंसा के सही अर्थ को समझने लगेगा तब वह विपस्सना साधना को भी समझ कर उसे अपने जीवन में व्यवहारिक रूप दे पायेगा, तत्पश्चात एक ऐसे समाज की हम कल्पना कर सकते है जो मैत्री, करूणा, मुदिता और उपेखा से परिपूर्ण होगा। यह चार अवस्थाएं ब्रह्मविहार कहलाते हैं। जिसके अभ्यास से जीवन के प्रति सम्यक् व्यवहार और सब प्राणियों के हित एवं सुख की कामना आती है। वह दूसरों के दुखों को दूर करने की चेष्टा करता है। जो सम्पन्न है उनको देखकर वह प्रसन्न होता है, उनसे ईर्ष्या नहीं करता। आतंकवादी के मस्तिष्क में जो अज्ञान भरा हुआ है वह इन चार भावनाओं अर्थात् मैत्री, करूणा, मुदिता और उपेखा के द्वारा उनके राग, द्वेष, ईर्ष्या आदि चित के मलों का क्षालन संभव है। ये चारों बह्मविहार समान रूप से ज्ञान और सुगति देने वाले हैं। मैत्री भावना का विशेष कार्य दोष का प्रतिघात करना है। करूणा–भावना का विशेष कार्य विहिंसा का प्रतिघात करना है। मुदिता भावना अप्रीति का नाश करती और उपेक्षा भावना का कार्य, राग का प्रतिघात करना है। चित्त को विशुद्ध करने के लिये ये चार ब्रह्मविहार उत्तम उपाय है।

अब हम निष्कर्ष पर आते है कि बुराई सामाजिक या वैश्विक हो इसका अन्त हम भगवान् बुद्ध की शिक्षाओं के सहारे बड़ी आसानी से कर सकते हैं, बशर्ते की हम अपने अन्दर की अज्ञान को हटाकर ज्ञान के प्रकाश को प्रकशित करें यही बौद्ध शिक्षाओं के द्वारा होता है।

आतंकवाद एक समस्या बन कर समस्त विश्व में फैला हुआ है क्योंकि इसके सुधार में कोई व्यवहारिक कदम नहीं उठाये गये हैं। हम इस आतंकवाद शब्द से इतना भयभीत हो चुके हैं कि सही चीजों को समझ नहीं पा रहे हैं और सिर्फ भय को अपने अंदर पनपने दे रहे हैं। हमें अपने समाज और विश्व को शांति की ओर ले जाने के लिए भगवान् बुद्ध की शिक्षाओं के यर्थाथ को समझना होगा एवं उसे अपने जीवन में उतारना होगा। तत्पश्चात् एक सुन्दर समाज एवं विश्व की रचना की जा सकती है।

lnHk&xzUFk lph%

1. वर्मा, रामचन्द्र, कपूर बदरीनाथ, ''लोकभारती प्रामाणिक हिन्दी कोश,'' लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1996।
2. शास्त्री, द्वारिकादास, ''महावग्गपालि'', बौद्ध भारती, वाराणसी, 2013।
3. ताराराम, ''धम्मपद एक परिचय'', सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008।
4. शास्त्री, द्वारिकादास, ''विसुद्धिमग्गो'', भाग–2, बौद्ध भारती, वाराणसी, 2002।
5. नथमल, मुनि, ''अहिंसा तत्त्व–दर्शन'', रेफिल आर्ट प्रेस, कलकता, 1860।
6. सिंह, लाल, ''सुख और शांति का आधार विपस्सना'', सम्यक् प्राकशन, 2009।

Genesis of Drikung-bKa-brgyud tradition of Tibetan Buddhism

Thinlay Norboo, Research Scholar (UGC-JRF), Department of Buddhist Studies
University of Jammu, Jammu-180006(J&K)

Sixth century B.C.E has a great relevance in the history of India as it was the period, in which India witnessed the rise of many great religious teachers and scholars, of them was the Gautama Buddha and during his period teachings can be confined to geographical limits. However, with the passage of time the teachings of Buddha have been disseminated into various parts of foreign lands such as china, Mongolia, Tibet, Ladakh and so on. Prince Siddhartha was born to father *Suddhodana* who was the chief of Sakya whose capital was *Kapilavastu* and mother *Mahamaya* in Lumbini near *Kapilavastu*. After the demise of the mother, the child was looked after by his step mother Prajapati Gautami, younger sister of Mahamaya.

The Prince was bounded by comfortable life. When he was born, a number of wise saints predicted that the boy would become either a well-known spiritual leader or a great king. Although, the father wanted that his son would become a great king. Therefore the King kept the prince away from all forms of spiritual life and had no thought about concept of sickness, old age and death. When the prince was sixteen, his father arranged his marriage to a girl named Yasodhara. They had a son named Rahula.

One day the prince went out for trip through a town on a chariot with charioteer and the prince witnessed a diseased person, an old man, a dead body and finally he saw a saint. He asked questions and get answered for his questions from charioteer. An incident about the sufferings in the world gave rise to numerous queries within his mind and after the happening; prince soon gave up all his worldly pleasures in order to embark on a journey of self-discovery. At the age of twenty nine, the prince left his palace and his loving son and wife to lead an ascetic life. Ultimately after about six years of rigorous meditation and contemplation, he got Enlightenment, and became the Buddha.

If we study the accounts of Tibetan Buddhism, many sources reflect that pre-Buddhist religion of Tibet was Bon-Chos.[1] With the fusion of new religion (Buddhism) with the existing Bon-Chos in Tibet, the traditional religion of Tibet took a new turn and many philosophies of Buddha found place in the religious practices of Tibet as logic was one of them. In Tibet, the Buddha's Dharma was propagated by many scholars like great Shantarakshita and Guru Padmasambhava as well as Kings of Tibet like King Srong-btsan-sgampo, King Khri-srong- lde-brtsan.

The seeds of Dharma sown by Buddhist propagators declined with the rise of

King Lang Darma as he challenged many practices of Buddhist teachings, which led to the decline of Buddhist Dharma. The next wave of Buddhist doctrines in Tibet has been embarked after many years. It was marked by the translation of many Buddhist texts, exchange of Tibetan and Indian Buddhist scholars and the lineage of teachings founded between India and Tibet, which eventually gave rise to the chief Schools of Tibetan Buddhism like Nyingma, Skya, Kagyu, Gelug and so on.

The genesis of the Drikung-bKa-brgyud School can be traced back to the great Indian saint Tilopa who was one of the eighty four thousand Mahasiddhas of India. He studied Dharma directly from the Buddha Vajradhara (Dorje Chang)[2]. Now question arises here, who is Buddha Vajradhara? For this, one needs to understand the doctrine of Trikaya. The doctrine discusses that how Sakyamuni Buddha manifests in different levels with same compassion. Trikaya consists of three manifestations of the Buddha i.e. Dharmakaya, Sambhogakaya and Nirmanakaya. The Buddha's wisdom mind is Dharmakaya, the Buddha's speech is sambhogakaya and his body is Nirmanakaya. For instance the great Mahasiddha Tilopa received teachings directly from Sambhogakaya Vajradhara i.e. Dorje Chang. For the worldly people, the Buddha came as Nirmanakaya. It means One can receive the teachings according to the level of realization which achieved by oneself.

In Tibet, Tilopa's chief disciple, Naropa is remembered respectfully as *Na- Ro Pan Chen or Mahapandita*. This is because of the great Tibetan master Mar-Pa-Chos-Kyi-bLo-gros who met him in India and studied all the work of Naropa, then brought into Tibet. It is said that he visited India three times through Nepal to search the authentic teachings of the Buddha. Konpo Konchok Phanday from Skurbuchan-Ladakh narrates that eminent Indian sage Naropa who came to Zanskar via Lamayuru village from Kashmir. He added that in Lamayuru a dGonpa name Yangdrung Tharpaling is one of the largest monasteries of Drikung kagyu Order and near the dGonpa, a cave is situated where Mahasiddha Naropa used to meditate in the eleventh century C.E

Mar-Pa-Chos-Kyi-bLo-gros's chief disciple was the enlightened Yogi Milarepa, who attained enlightenment in one life time, transmitted his teachings to Gampopa Sonam Rinchen. Gampopa Sonam Rinchen disciple was Lama Dagpo Lharje or Phagmodrukpa, whose chief disciple was Lord Jigten Sumgon. So, after the demise of Phagmodrukpa, Lord Jigten Sumgon took over the throne of the Phagdru Kagyu, which is in Densa Thil and later

Lord Jigten Sumgon established his own Order at the Drikung area.[3] An immeasurable year ago, with many wonderful signs accompanied the founder of Drikung kagyu was born to *Naljorpa Dorje*, a great practitioner of *Yamantaka* and mother *Rakshisa Tsuma* as the *Chakravartin Tsikyi Mukhyu* and it is believed that he was the father of a thousand princes. But later he gave up the kingdom, achieved enlightenment, and was known the

Tathagata Nagakuladipa.[4]

Gurava Tsultrim Dorje was the immediate successor of Jigten Sumgon.[5] Since then, the teachings of Lord Jigten Sumgon have been carried out continuously by different lineages till now, that is way this Order is specially known for its continuous lineages.

Regarding the nomenclature of Drikung School, we can find various interpretations from the several Buddhist scholars. Khanpo Konchok Namdak from Phyang states that name or nomenclature of Tibetan Buddhist schools had been derived from different sources like name of area, founder of particular School or minister and also through their particular teachings. He further narrates that the Drikung area was then, supposed to under Dri Seru Gungton, who was one of the ministers of King srong btsan sgam po or Songtsen Gampo and it is believed that the region was named after the minister. However, some scholars state that the founder of Order had selected a site for build a dGonpa near Densa thil. This site was earlier used to be a grazing area for Dri (female yak), so it is believed that the name Drikung has been derived from it.

As far as genesis of the Drikung Kagyu School in Ladakh is concerned, Drupon Konchok Tenzin Rinpoche narrates that Lord Jigten Sumgon sent his disciples to different places, especially Kailash, Tsari and Lapchi. During that time Channga Sherab Jungne, one of chief disciples of Ratna Shri or Jigten Sumgon, came to Ladakh, reached at Pangmig village near Pangong lake and there he built a temple, Khanpo Konchok Namdak Phyang, Khanpo Konchok Stanzin Skurbuchan, Khanpo Tashi Dorje Shachukhul and scholar Gyen Sonam Spaljor Kargam and many local scholars have been supported on his views. Later, this so-called ruined temple was rebuilt by the villagers with the advice of high Lama, named Gon Serbumchen.

Tak-Tse or Tangtse dGonpa is known for its giant statue of the founder of Drikung-bKa-brgyud. Some indigenous scholars narrate that the giant statue was brought from Pangmig village but according to Gyen Sonam Spaljor, a small statue of Jigten Sumgon might be installed inside the giant statue and that small one might be brought from said village.

Moreover, some scholars state that Channga Sherab Jungne, who was one of the disciples of founder of this tradition, had made his journey to Lamayuru village. In this village, Yangdrung Tharpaling dGonpa is situated and it's popularly known as Lamayuru dGonpa. It is said that first five hundred years of the dGonpa belonged to Kadam School after that Shamarpa Oder took over the dGonpa and had been under their control for many years. Later it was brought under the Drikung Kagyu Order in the sixteen century during the reign of the King Tashi Namgyal. Western scholar A.H. Fracke said that dGonpa initially belonged to Bon religion and its name Swastika is a symbol of Bon for eternity but it is rejected by many indigenous scholars on the basis of different reasons.

However, the development of Order had taken place many years later. Khanpo Konchok Phanday states that then, King of Ladakh had developed disease that was cured by great lama Chosje Danma Kungha Tagspa of Tibet and the King granted the lama a site to build a dGonpa and Gangon Tashi Chodzong popularly known as Phyang dGonpa was built on the site. Some indigenous scholars state that the dGonpa was built during the reign of King Jamyang Namgyal but examining from inscriptions and wall paintings of the Gonkhang by western scholars, the dGonpa is supposed to have been constructed during the reign of King Tashi Namgyal. Since then Dharma of Drikung kagyu has been fourished in Ladakh.

Presently, Drikung Kagyu Order is headed by *Drikung Skyabgon Chetsang Konchok Tenzin Kunzang Tenley Lhundrup* and *Drikung Skyabgon Chuntsang Konchok Tenzin Chokyi Nangwa*. In nuclear age, Drikung Skyabgon Chetsang not only emphasises traditional teachings but also strives to focus on modern education too and working on Environmental catastrophes is one of his prime works.

Reference

1 Murhty, K. Krishna.1989. Buddhism in Tibet, Publication Sundeep Prakash, Delhi, p.1
2 Rao, Ramchandra. S. K. 1977. Tibetan Tantric Tradition, Publication, Rakesh Press, New Delhi, P.80
3 Gruber, R. Elmar. 2010. From The Heart of Tibet: The biography of Drikung Chetsang Rinpoche, the Holder of the Drikung Kagyu Lineage, Publication Shambhala Boston and London, p.187
4 Rigzin, Konchok, 2010 The instruction of Gampopa: A Precious Garland of the Supreme Path, p.9
5 Hun, Lye and Tenzin, Tsultrim. 2008. Masters of the Golden Rosary Lineage: Life and Liberation Stories of Drigung Kagyu Throne holders,p.14

lkikdRFkjxkFkk

^^fnLok ikl knNkk;k;k] p^^fnLok ikl knNk;k;k] p;d eUr u:Rre A rRFk u mil[kEe] ofUnl i;fjl Ùke AA^^

''प्रसाद की छाया में चंक्रमण करते हुए नरोत्तम को देखा। देखकर वहॉ पहुँचा, और उस उत्तम पुरूष बुद्ध की वन्दना की।''

^^, dl phoj dRok] lgfjRoku ik.k;kA vup[kfeLl foj t] lCcl Ùkkue Rre AA^^

''चीवर को एक कन्धे पर करके, हाथों को जोड़कर, मनोविकार रहित, सभी सत्वों में उत्तम, उस रज मुक्त पुरूष के पीछे–पीछे चंक्रमण किया।''

सम्राट् कनिष्क और चतुर्थ बौद्ध संगीति

l[Hke d[ekj] 'kk/k Nk=] c[k) v/;;u foHkkx] uo uky Unk egkfogkj] uky Unk

बौद्ध परम्पराओं के साक्ष्यों से पता चलता है कि सम्राट् कनिष्क में बौद्धधर्म ग्रहण करने से पहले धार्मिक भावना के प्रति विशेष निष्ठा नहीं थी, किन्तु इस मत को स्वीकार करने में विद्वान् एकमत नहीं हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि बौद्धधर्म से पहले कनिष्क विभिन्न देवी–देवताओं के प्रति उदार दृष्टि रखता था,जिसका साक्ष्य हमें उसके सिक्कों पर अंकित देवी–देवताओं की मूर्तियों से मिलता है।

सम्राट् कनिष्क ने कब और किन परिस्थितियों से प्रभावित होकर बौद्धधर्म को स्वीकारा? इस प्रश्न का निश्चित रूप से समाधान करना अत्यन्त दुष्कर है। कुछ लोगों का तो यहां तक मानना है कि मगध से महाकवि अश्वघोष को जब वह अपनी राजधानी पेशावर ले गया तथा कश्मीर को जीतने के बाद वहां का बाहुल्य और विशेष धार्मिक प्रचार–प्रसार देखकर, साथ ही अश्वघोष की बौद्धधर्म के प्रति अनन्य भक्ति, अटूट श्रद्धा और प्रेम देखकर ही वह बौद्धधर्म के प्रति निष्ठावान् हुआ और अन्ततः पूर्णरूप से बौद्धधर्म का अनुयायी हो गया। बौद्धधर्म को ग्रहण करने के बाद भी उसने अपनी धार्मिक उदारता को नहीं छोड़ा। उसने बौद्धधर्म के समान ही दूसरे धर्मों के प्रति भी सहिष्णुता तथा सौहार्द बनाये रखा। उसने दूसरे धर्मों की विशेषताओं तथा मौलिक सिद्धान्तों पर किसी प्रकार का विरोध नहीं किया।

सम्राट् कनिष्क की तुलना कुछ इतिहासकारों ने सम्राट् अशोक के साथ की है, क्योंकि अशोक की भांति सम्राट् कनिष्क भी बौद्ध धर्म का अनुयायी था। दोनों को एक ही स्वभाव का तथा बौद्धधर्म के प्रचार–प्रसार में एक ही तरह का कार्य करने वाला माना जाता है। बौद्ध मान्यताओं के अनुसार यह विचार है कि बौद्धधर्म ग्रहण करने से पहले दोनों क्रूर स्वभाव, युद्धप्रिय तथा हिंसात्मक प्रकृति के थे। बौद्धधर्म के सम्पर्क में आने एवं उसके युग के महान् व्यक्तियों के प्रभाव में आने से उन दोनों के जीवन में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। संभवतः अशोक की विचारधारा को ही अपनाकर सम्राट् कनिष्क ने बौद्धधर्म के प्रचार–प्रसार के लिए अथक प्रयास किया। साथ ही अशोक के गुणों को अपनाकर बौद्धध र्म के महायानी सिद्धान्तों को विश्व के कोने–कोने में पहुचांया था।

बौद्धधर्म के ढाई हजार वर्ष में विद्वानों ने सम्राट् कनिष्क के विषय में 'आजकल' पत्रिका के वार्षिक अंक में इस प्रकार का विचार व्यक्त किया है – ''सम्राट् कनिष्क ने जिस प्रकार बौद्धधर्म ग्रहण किया उसकी कहानी प्रायः अशोक के समान हीहै। कहा जाता है कि यूची सम्राट् का अपने जीवन के पूर्व भाग में बौद्धधर्म के प्रति बिल्कुल आदर भाव नहीं था। उसका कर्म के सिद्धान्त में विश्वास नहीं था और वह बौद्धधर्म को घृणा की दृष्टि से देखता था। काशगर, यारकन्द और खोतान की विजय करते समय उसने जो रक्तपात किया, उसके पाश्चाताप स्वरूप ही बौद्धधर्म की शान्ति प्रदान करने

वाली शिक्षाओं की ओर उसका झुकाव हुआ। परिणामतः वह बौद्धधर्मावलम्बी हुआ और उत्साहपूर्वक इसके प्रचार कार्य में अथक प्रयास किया''।[1]

बौद्ध प्रचारक के रूप में सम्राट् कनिष्क के विषय में आचार्य बलदेव उपाध्याय ने अपना विचार इस प्रकार व्यक्त किया है – ''शुंगों से कतिपय शताब्दियों के पीछे कुषाणों का काल आता है। इस काल में प्रतिक्रिया के रूप में बौद्धधर्म ने उन्नति करना प्रारम्भ किया। कनिष्क तो मूलतः जाति से शक वंशीय तथा भारत के बाहर से आया व्यक्ति था, परन्तु धार्मिक भावना में वह बौद्धधर्म का असाध ाारण पक्षपाती तथा उदार प्रचारक था''।

धर्म मानव को शान्ति के मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करता है। बौद्धधर्म का प्रादुर्भाव पाँचवी छठी शाताब्दी ई॰पू॰ भगवान् बुद्ध के साथ ही आरंभ हो गया था, जो भगवान् बुद्ध के समय सर्वमान्य धर्म के रूप में अपने चरम पर था, क्योंकि कोई भी धर्म संस्थापक अपने धर्म की स्थापना हेतु अपने समक्ष उसमें त्रुटि एवं अनुशासन हीनता नहीं आने देता है। उनके महान्आचरण से उनके सन्मुख कोई भी अनियमित कार्य नहीं कर सकते, क्योंकि कुछ उनकी वाणी का प्रभाव भी ऐसा होता है, कि सहसा किसी को भी उनके रचनात्मक कार्यो के कारण उनके विरुद्ध कार्य करने का साहस ही नहीं होता।

विकास इस विश्व का प्रधान नियम है। उत्पत्ति के अनन्तर कोई भी वस्तु विकसित हुए बिना नहीं रहती। अंकुर विकसित होकर वृक्ष का रूप धारण करता है। कलियाँ विकसित होकर फूल का रूप धारण करती है। धर्म इस नियम का अपवाद नहीं है। नवीन परिस्थितियों में आवश्यक सहायक सामग्री के सहारे, धर्म को विकसित होते विलम्ब नहीं लगता, धर्म का बीज अंकुरित होकर पल्लवित हो उठता है। बुद्ध धर्म का विकास हुआ और बड़े मनोरंजक ढंग से विकास हुआ। भगवान बुद्ध के निर्वाण के पश्चात्उनके अग्रसावकों एवं परम शिष्यों नेएक रचनात्मक कदम उठाया। भगवान् बुद्ध के उन मौखिक उपदेशों को लिखित रूप में प्रामाणिकता के साथ एकत्रित करने का कार्य प्रारंभ किया।

भगवान बुद्ध के महापरिनिर्वाण के बाद बौद्ध संघ में आये मतभेदों या विवादों के निवारणार्थ भारत की भूमि पर चार संगीतियों का आयोजन किया गया, जो क्रमशः निम्नवत् हैं – प्रथम संगीति राजगृह के वैभारपर्वत में, द्वितीय संगीति वैशाली के कुक्कुटाराम में, तृतीय संगीति पाटलिपुत्र के अशोकाराम में तथा चतुर्थ संगीति कश्मीर के कुण्डलवन विहार में।यह संगीति का आयोजन बौद्ध परम्परा के अनुसार सम्राट् कनिष्क के तत्वाधान में हुआ था। ऐसा माना जाता है कि कनिष्क का आधिपत्य काबुल, गांधार, सिन्ध, उत्तरी–पश्चिमी भारत, कश्मीर और मध्यप्रदेश तक था। कनिष्क के सिक्कों के साक्ष्य से पता चलता है कि कनिष्क पहले ईरानी धर्म का अनुयायी था परन्तु बाद में वह बौद्ध धर्म का अनुयायी हो गया। श्वान्च्वांग के कथनानुसार कनिष्क के समय में बौद्ध निकायों में बहुत मतभेद विकसित हो गये थे, जिसके समाधान के लिए कनिष्क ने चौथी संगीति का आयोजन किया, ताकि भिन्न–भिन्न निकायों का त्रिपिटक (बुद्धवचन) के संबंध में क्या मत है, इसे सुनिश्चित

1 बौद्ध धर्म के 2500 वें वर्ष (आजकल का वार्षिक अंक 1956) पृ॰ 145।

किया जा सके। यह संगीति लगभग 100 ई॰ में आयोजित की गई थी।[2]कुछ विद्वान चतुर्थ संगीति के स्थान के संबध में प्रश्नचिह्न लगाते हैं। डॉ॰ स्मिथ महोदय मंगोलदेशीय ग्रन्थकारों का उद्धरण प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि यह संगीति कश्मीर के जालन्धर नामक स्थान पर करायी गई थी।[3] परन्तु इनके मत को अस्वीकारते हुए इतिहासकार एकमत से स्वीकार करते हैं कि चतुर्थ संगीति का आयोजन कश्मीर के कुण्डलवन में हुआ था।[4]स्थविरवादी परम्परा में इस संगीति का कोई उल्लेख नहीं मिलता।[5]

सर्वास्तिवादियों के दृष्टिकोण या साक्ष्यों के अनुसार यह संगीति बौद्ध धर्म की तृतीय संगीति है, क्योंकि बौद्ध संस्कृत परम्परा में पाटलिपुत्र की तीसरी संगीति का कोई उल्लेख नहीं है। उस संगीति के लिए सम्राट् कनिष्क ने अपने गुरू पार्श्व की सहायता से अर्हतों का चुनाव किया, जिसमें अन्ततः (प्रथम संगीति) 499 अर्हत् ही चुने गये। इस संगीति के वर्णन में ऐसा उल्लेख मिलता है कि वसुमित्र को संगीति के लिए नहीं चुना जा सका, क्योंकि वे अर्हत् नहीं थे। ऋद्धि द्वारा उन्होंनेशीघ्र ही अर्हत्व को प्राप्त किया और वे संगीति के सदस्य ही नहीं बने, अपितु उनके ही निर्देशन में संगीति की कार्यवाही सम्पन्न हुई। इस प्रकार इस संगीति में 500 अर्हत् भिक्षुओं ने भाग लिया, जिसके अध्यक्ष वसुमित्र तथा उपाध्यक्ष महाकवि अश्वघोष थे।

कुछ इतिहासकारों ने चतुर्थ संगीति की ऐतिहासिकता के संबंध में संदिग्धता व्यक्त किया है। सिंहली ग्रन्थों के आधार पर विद्वानों ने ऐसी संभावना व्यक्त की है कि सिंहली ग्रन्थों में कहीं भी इस संगीति के सम्पन्न होने की चर्चा नहीं की गई है, परन्तु सिंहली ग्रन्थों में चतुर्थ संगीति का वर्णन इसलिए नहीं किया गया है, क्योंकि यह संगीति सर्वास्तिवादियों अथवा महासंघिकों के अनुसार आयोजित की गयी थी, जबकि सिंहल में बौद्ध धर्म के स्थविरवादी अथवा थेरवादी सम्प्रदाय के अनुयायी थे। यही कारण है कि सिंहली ग्रन्थ तथा उनकी परम्परा में चतुर्थ संगीति के संबंध में किसी प्रकार का वर्णन नहीं मिलता है।

चतुर्थ संगीति में सर्वास्तिवादी अथवा महासांघिकों ने बौद्ध धर्म के महत्वपूर्ण सिद्धान्तों पर अपने मतों को निर्धारित किया तथा अन्य विरोधी सम्प्रदायों के सिद्धान्तों का खण्डन किया। त्रिपिटक के ऊपर बहुत ही महत्वपूर्णव्याख्या (भाष्य) लिखी गई, जिसे ''महाविभाषा''के नाम से जाना जाता है। यह ग्रन्थ मूल रूप में संस्कृत भाषा में था, परन्तु दुर्भाग्यवश संस्कृत भाषा में यह अप्राप्त है। वर्तमान में केवल चीनी संस्करण में ही ''महाविभाषा'' विद्यमान है, जो बौद्ध धर्म के लिए अति अमूल्य धरोहर है।

---

2 बुद्धिस्ट रिकॉर्ड ऑफ दि वेस्टर्न वर्ल्ड, भा॰ 1, पृ॰, 152.

3 स्मिथ, डॉ॰ – अर्ली इण्डिया, पृ॰, 237–269. श्वान्च्वांग यह नहीं बताते हैं कि यह संगीति कहां हुई थी, किन्तु सामान्यतः ऐसा माना जाता है कि वह जालन्धर में हुई थी। द्रष्ट॰, थामस एडवर्ड, जे॰, दि हिस्ट्री ऑफ बुद्धिस्ट थाट, पृ॰, 175.

4 डॉ॰ वापट, पी॰ वी॰– बौद्ध धर्म के दो हजार पांच सौ वर्ष, पृ॰, 33.

5 महांवस में इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता है।

संगीति के समाप्त होने के बाद सम्राट् कनिष्क ने भाष्यों को ताम्रपट पर उत्कीर्ण करवाया तथा उन्हें इस कार्य के निमित्त अति प्रसिद्ध स्तूप के नीचे गड़वा दिया। सम्भवतः ये अमूल्य ग्रन्थ आज भी कश्मीर में कहीं धरती के गर्त में छिपे हुए हों, जो उत्खनन के दौरान प्राप्त हो जाय। अभी तक उस स्तूप की जानकारी संदिग्ध है। सम्राट् कनिष्क ने संगीति के कार्य को समाप्त कर कश्मीर का राज्य बौद्ध संघ को अर्पित कर दिया तथा वह पेशावर को लौट गया[6]। सम्राट् कनिष्क के द्वारा आयोजित संगीति की सफलता के कारण ही बौद्ध धर्म का चतुर्मुखी विकास संभव हुआ।

चतुर्थ संगीति के उपरान्त बौद्ध धर्म के सर्वास्तिवाद अथवा वैभाषिक मतों का देशव्यापी प्रचार–पसार हुआ। सम्राट् कनिष्क ने इस मत को स्वीकार करके इसके प्रचारार्थ उत्तरी देशों में बौद्ध प्रचारकों को भेजा। इस मत के प्रचार–प्रसार के क्रम में यह धर्म चीन देश में भी पहुंचा। चीन के लोगों ने बौद्ध धर्म की इस शाखा को अपनाकर उनके अनुयायी हो गये।साथ ही साथ इस धर्म के प्रचार–प्रसार के कारण चीन देश में सर्वास्तिवादी बौद्ध धर्म ने अपनी अलग पहचान बना ली थी। बौद्ध धर्म के विपुल साहित्य (त्रिपिटक) का चीनी भाषा में अनुवाद किया, जो आज भी सुरक्षित है। संभवतः मूल संस्कृत तो सर्वथा विलुप्त ही हो चुका है। कालान्तर में वसुबन्धु तथा स्थूलभद्र जैसे महान् आचार्यों ने अपने नवीन पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थों से सर्वास्तिवाद बौद्ध शाखा में एक नयी जीवन शक्ति का संचार कर दिया।कुछ दिनों तक यह मत अपने को प्रतिष्ठापितकर काफी विकास किया परन्तु कालान्तर में यह धीरे–धीरे धूमिल होता गया, क्योंकि बाद में सर्वास्तिवाद से ही अलग होकर सर्वशून्यवाद और विज्ञानवाद का जन्म हुआ, जिसके प्रमुख आचार्य कुमारलात, नागार्जुन, मैत्रेयनाथ, असंग और वसुबन्धु थे।

चतुर्थ संगीति की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि यह कही जा सकती है कि सम्राट् कनिष्क के काल में आयोजित इस संगीति के कारण गांधार कला की उत्पत्ति हुई। इस संगीति से पूर्व मौर्यकाल एवं शुंगकाल तक बुद्ध की मानवीय प्रतिमा का निर्माण नहीं होता था बल्कि मात्र संकेतों के द्वारा या उनके उपदेशों को ही पूज्य समझा जाता था। गांधार कला की उत्पत्ति के बाद बुद्ध की प्रतिमाओं का अधिक संख्या में निर्माण होने लगा। इस कला में भारतीय, यूनानी एवं ईरानी कला का सम्मिश्रण था। गांधार कला के सहारे कलाकारों ने बुद्ध (अवलोकितेश्वर) की अद्भुत प्रतिमाओं का निर्माण किया।

इस प्रकार चतुर्थ संगीति के बाद अपनी उदार नीति, विमल उपदेश तथा विश्वजनीन संदेशों के कारण बौद्ध धर्म भारत के बाहर पूर्वी देशों में फैला। इस क्रम में चीन, तिब्बत, कोरिया तथा जापान आदि देशों में सर्वास्तिवाद बौद्ध धर्म का उदय हुआ। सदाचार के अवलम्बन से मानव स्वयं अपनी शक्ति से निर्वाण पद प्राप्त कर सकता है, बौद्ध धर्म का यह भेरीनाद सम्पूर्ण विश्व में गूंज उठा।

---

6 उपाध्याय, आचार्य बलदेव – बौद्ध धर्म मीमांसा, पृ॰, 35–36.

रसवाहिनी: एक परिचय

jkgy jk;] 'kk/k Nk=] ikfyfoHkkx] uoukyUnk egkfogkj¼lefo'ofo|ky;½] lLdfr e=ky;]
Hkkjr ljdkj ukyUnk ¼fcgkj½

रसवाहिनी पालि काव्य साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है, जो सर्वप्रथम महाविहारवासी रट्ठपाल (राष्ट्रपाल) नामक स्थविर द्वार सिंहली से पालि में रूपान्तरण किया गया। तत्पश्चात् प्रसिद्व सिंहली भिक्षु वैदेही स्थविर ने इसको शुद्ध कर नवीन रूप प्रदान किया। अतः रसवाहिनी का कर्तृत्व वैदेही स्थविर के नाम के साथ ही संबद्ध हो गया। अतः रसवाहिनी का सामान्य अर्थ है रस (साहित्यक, काव्य रस) का वहन करने वाला। रसवाहिनी मौलिक रूप से पालि भाषा की सिंहली लिपि की एक महत्त्वपूर्ण रचना है। वैदेही स्थविर का काल तेरहवीं शताब्दी तथा कुछ विद्वान के अनुसार चौदहवीं शताब्दी भी माना जाता है।

रसवाहिनी को उपदेश वाली कहानियों के नाम से भी जाना जाता है। प्रत्येक कहानी के बाद कहानी के सार के रूप में एक कविता अंकित है। रसवाहिनी में परम्परागत सिंहली लिपि का प्रयोग किया गया है और भिन्न प्रकार के सिंहली काव्य रसों का प्रयोग किया गया है।

रसवाहिनी को अभी तक पूर्णरूपेण देवनागरी रूपान्तरण किसी ने नहीं किया है इसलिए मैं इस विषय को अपने शोध कार्य के रूप में शामिल कर पुर्नरूपेण देवनागरी रूपान्तरण करने का प्रयास कर रहा हूँ। ताकि इस काव्य रस ग्रंथ का आनंद आम लोगों तक पहुँच सकें।

रसवाहिनी जिसे बौद्ध धर्म का एक धार्मिक ग्रंथ के रूप में भी देखा जाता है जम्बुद्वीप के साथ लंका का मधुर एवं गहरे संबंधो की व्याख्या करता है। रसवाहिनी के द्वारा हम जम्बुद्वीप तथा लंका द्व ीप के सांस्कृतिक संबंधो के साथ ऐतिहासिक बातों को भी हम बहुत ही सरल तरीकों से जान सकते है। रसवाहिनी एक ऐसा ग्रंथ है जिनकी कुछ कहानिया¡ जम्बुद्वीप में तथा कुछ लंका द्वीप में लिखी गई है। इसलिए यह एक अत्यन्त ही महत्वपूर्ण ग्रंथ है।

रसवाहिनी काव्य साहित्य का महत्वपूर्ण ग्रंथ है। काव्य साहित्य या ग्रंथ ऐसे ग्रंथों को कहते हैं जो कविता के रूप में संग्रह किया गया है। पालि काव्य साहित्य के अन्तर्गत वे ग्रंथ पाए जाते है जिसे पढ़ने या सुनने से लोगों में रसानुभूति का संचार हो तथा जिसकी भाषा को गुणों एवं अलंकारो से सजाया– संवारा गया हो।

रसवाहिनी में 103 कहानियों को अध्यायों वग्गों में विभाजित किया गया है। रसवाहिनी को दस वग्गों में बाँटा गया है। प्रत्येक अध्याय में दस कहानिया¡ तथा अन्त में कविता कही गई है, जो उस कहानी के सार को अपने में समेटे हुए दर्शायी गई है। जम्बूद्वीप में रसवाहिनी के 4 अध्याय को लिखा गया है जिसमें 40 कहानिया¡ संग्रहीत है तथा लंका द्वीप में 6 अध्याय को लिखा गया

है जिसमें 60 कहानिया¡ संग्रहीत है और बाद की 3 कहानियों को भी जोड़ा गया है इस प्रकार लंकाद्वीप में कहानियों की संख्या 63 हो जाती है।

अध्याय कहानी से प्रारंभ होकर कविता पर समाप्त होती है, जिसके कारण पुस्तक पढ़ने वालों की रूचि हमेशा बनी रहती है।

रसवाहिनी में राजा अशोक, काकनतिस्स, दुष्टगामनी, भिक्षु तथा अन्य बहुत सारे लोगों की कहानियों को संग्रहित किया गया है। इन कहानियों में बहुत सारे रस है जैसे– (करूणा, वीर, रौद्र, शांत, श्रृंगार, भक्ति, वात्सल्य, अदभुत आदि) बहुत सारे रसो में अपने अंदर समेटे हुए है। रसवाहिनी को हम कृतज्ञ पशु तथा अकृतज्ञ मनुष्य की एक सम्पत्ति मान सकते है। जातक, अपदान पालि, अट्ठकथाएँ और महावंश की पृष्ठभूमि में लिखा हुआ ग्रंथ।

बुद्ध– पूजा का तत्व इस ग्रन्थ की कहानियों में ध्वन्ति होता है, जो इस सम्बन्धी महायानी प्रवृति या भारतीय भक्तिवाद के प्रभाव का सूचक है।

रसवाहिनी की एक 'रसवाहिनीगष्ठि' नामक पालि– टीका भी लिखा गई है जिसकी सिंहली भाषा में शब्दशः अनुवाद भी मिलता है। बरमा में यह ग्रन्थ 'मधुरसवादिनी' या मधुरसवाहिनी' के नाम से प्रसिद्ध है।

y[kd ong LFkfoj

स्थविर वेदेह 13 वीं शताब्दी के पालि साहित्य के प्रसिद्ध नामों में से एक हैः इनका जन्म विप्रग्राम के एक ब्राह्मण वंश में हुआ था, बाद में उन्होंने बौद्ध धर्म में प्रविष्ट होकर प्रव्रज्जा ले ली। उनके गुरू प्रसिद्ध सिंहली भिक्षु आनन्द स्थविर थे जो वनरत्न भी कहलाते थे। इनका सम्बन्ध वनवासी सम्प्रदाय का अनुयायी बतलाया गया है। पालि भाषा में काव्य–रचना के क्षेत्र में विदेह स्थविर का नाम अज्ञात नहीं है। इनके द्वारा तीन काव्यों में क्रमशः 'सीहलसद्दलक्खणं'', समन्तकूटवण्णना एवं रसवाहिनी है, उत्तरकालीन पालि साहित्य में गद्य–पद्य मिश्रित कुछ आख्यानों की भी रचना हुई थी, जिसमें रसवाहिनी एवं समन्तकूटवणना का नाम आता है। रसवाहिनी का नाम अधिक प्रसिद्ध है मौलिक रूप में यह सिंहल भाषा की रचना थी। महाविहारवासी रट्ठपाल नामक स्थविर ने इनका प्रथम पालि रूपान्तर किया। बाद में प्रसिद्ध सिंहली भिक्षु वैदेह थेर ने इनको शुद्ध कर नवीन रूप प्रदान किया। रसवाहिनी 103 आख्यानों का संग्रह है, इनकी दूसरी रचना समन्तकूटवण्णना है। यह पद्य में रचित है, जिसमें कुल 796 गाथाएँ है। समन्तकूटवण्णना में भगवान बुद्ध के जीवन और विशेषतः उनके तीन बार लंकागमन तथा तृतीय यात्रा, उनके चरण चिन्ह द्वारा अंकित समन्तकूट पर्वत का भी वर्णन है, वैदेह स्थविर की यह अमर कृति है। रचना शैली की दृष्टि से इस रचना में संस्कृत–काव्यों का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। यह प्रभाव मात्र पद्य रचना की दृष्टि से है। काव्य की विभिन्न सर्गों या परिच्छेदों में बाँटने की प्रथा का यहा¡ अभाव है यद्यपि ग्रन्थ का विषय स्वयं बड़ा व्यापक है, तथापि इसे एक आख्यानक के रूप में प्रस्तुत करना ही कवि को अभीष्ट प्रतीत होता है।

कवि का सर्जनात्मकता यदि बहुमुखी न हो तो काव्य में एकाकीपन का अनुभव होता है। समन्तकूटवण्णना में इसका पूरा ध्यान रखा गया है– नदी, बाग, वन, नगर आदि को बड़े ही मनोरम ढंग से वर्णित किया गया है। जब एक ओर संसार की अनित्यता, अनात्मता एवं दुःखता को विरक्ति प्रधान शैली में व्यक्त किया गया है। वहीं प्रकृति के मनोरम दृश्यों का सजीव वर्णन भी किया गया है। सुमेध देवता के मुख से समन्तकूट शिखर का प्राकृतिक चित्रण कवि ने जिस शब्द–विन्यास से किया है वह दर्शनीय हैं। श्रावस्ती के जेतवन में छः एवं स्वर्ग में पारिजात के मूल में किए गए। एक वर्षावास का उल्लेख भी यथास्थान किया गया है यद्यपि ये सारी सूचनाएँ हमें 'जातक' 'महावस्तु' बुद्धवंशों आदि ग्रन्थों से मिल जाती है तथापि एक रोचक काव्य के रूप में हमारे समक्ष प्रस्तुत कर स्थविर विदेह ने बौद्ध जगत् को अवश्य उपकृत किया है। ऐसी अनेक छोटी–बड़ी रचनाएँ अभी प्रकाश में आनी शेष है देवनागरी लिपि में इसकी बड़ी न्यूवता है।

मैंने अपने शोध के विषय के रूप में इस विषय को इसलिए चुना है कि सर्वप्रथम मेरे स्नातकोत्तर का विषय पालि है और अध्येताओं का यह कर्त्तव्य है कि हमें इस क्षेत्र के वैसे विषयों को जिन पर अभी बहुत काम होने बाकी है, को अपनी शोध का क्षेत्र बनाना होगा ताकि आने वाले समय में हम बुद्ध वचन के किसी भी पहलु से अनछुए न रह जाए।

lUnHk lfp

1. उपाध्याय, भरतसिंह, पालि साहित्य का इतिहास, 636
2. पालि आख्यानः रसवाहिनी
3. Adikaram, E.W. The Early History of Buddhism in Ceylon, Colombo, 1953.
4. Banerjee, A.C. Buddhism in India an Abroad, Calcutta, 1973.
5. Bapat, P.V.ed. 2500 Years of Buddhis, Delhi, 1956.
6. Sanskrit-English Dictionary, M. Monier-Williams (Ed.), Delhi: MotilalBanarsidass, 1999.

---

vIlekno Xxk

mÎkuork lfrerk] lfpdEeLl fulEedkfjukA

l;rLl /kEet hfouk] vUueÙkLl ;lkfHkoM<frAA

उद्योगशील, जागरुक, पवित्र कर्म करने वाले, सोच–विचार कर काम करने वाले संयमी, धर्म के अनुसार जीविका चलाने वाले अप्रमादी व्यक्ति का यष खूब बढ़ता है।

– धम्मपद, 2–24

Conflict and Peace —within and without: A Peep through Dharma Dhamma Tradition.

Ashwani Kumar, Research Scholar, Department of Buddhist Studies, University of Jammu, Jammu.

Introduction: Today humanity is faced with a very challenging dilemma war and peace. War means the extinction of the human race, the end of our civilization, the worst suffering for mankind etc. Peace means the survivals of our world, new progress and achievements for our civilization, smiles and hope for our younger generation.

From very beginning of the history, human civilization has strived for peace. "A human being by nature is a mixture of good and evil qualities. The evil in man if not checked turns him to a devil. Throughout the entire course of human history, mankind has struggled with the evil forces. When he has successfully controlled the evil, human civilization reaches its climax when there is an era of peace.

In today's world science has made tremendous progress in increasing comforts for the people, but it is miserably failed to ease the prevalent threat to their destruction.

Man has practically achieved everything to make living comfortably but, on the other hand, a dark future seems to have set in. Man's own created tools have put a big question mark on the very existence of human race itself. Now there is arm race in the whole of the world to procure more and more sophisticated nuclear weapons. Its impact we are looking and hearing from different source of information like T.V, Newspaper, and Magazine etc. Fear has crippled the entire human civilization. The adverse result of the modernization has changed the very concept of human values as also their behaviour. All this has put the world in threat. Consequently, there is a bewildered cry for peace in the world[1]".

Conflict is by- product of clash of interest, over ambition, excess and unjustified greed, dominating tendency towards others and so on. There are innumerable instances of 'conflict' and its resolution in the human history. Interestingly, conflicts and disputes do generate hatred which wides the gap between the warring parties. Minds of both the parties get unrest, which may further aggravate the situation.

Peace on the contrary is the permanent or lasting needs of person, family, society, nation and the entire world. Peace makes oneself relaxed externally as well as internally.

In all the tradition of Dharma –Dhamma, peace and tranquillity have been accorded supreme importance, which is possible externally through true love, compassion, amicable behaviour, philanthropic attitude etc.; and internally through spiritual practices. All the

branches of Sanatana tradition, advocate for inner peace which is the ultimate objectives of life. Methodologies are different in the form of religion as we call today but the goal is same.

Understanding the true nature of Dharma:

Majority of the ordinary people confused to define Dharma and they use to say Dharma is Hinduism, Muslimism, Sikhism Buddhism Jainism etc. I believe Dharma is simply to act with honesty as right duty or to act with a positive attitude towards our duty whatever we have to do that is Dharma. "Indian mythology recognises two types of Dharma, Sadharam and Vishesha (also known as Sadharam). Dharma as duty is the 'Svadharma'of the Individual according to his stage of life and status in society; it is specific for every Individual. But Dharma as Virtue is universal in scope and eternal in nature; hence it is Sadharam; generic. The Indian tradition enumerates quite a number of Virtues that Each Individual should cultivate Ahimsa (Non- injury), Daya (Compassion), Danna (Charity), and Shaucha (Purity), Satya (truth), Tapas (austerity).

Dharma as Realization:

Swami Vivekananda state that religion does not consist in doctrines or dogma or in intellectual argumentation but it is a realisation. He further claims that the end of all religions is the realization of God in the soul. That is one universal religion. Religion is a question of fact, not of talk we have to analysis our own soul and find what is there. We have to understand it and to realise what is understood, that is religion. The higher truth and the religions experience are to be realized and indwelled and not perceived through our sense organs. Realization of the truth is the only way to life fulfilment, say the upanisada. In the upanisada, we have the concept of Mukti (Freedom) and Puranata (Fullness). To experiences the delight of the freedom and to enlarge the bowls of man's, self -realization is the only way"[2].

The concept of Dhamma connect not only human being with high moral values but also provides simple practise of the beliefs of evil less society, high spirit of ethics, purity, faithfulness, self-sacrifices, control over cravings, and non-injury to living creatures in thought and action. The Buddha firm stress on the equality of mankind considerably strengthens the social concept of social harmony, peaceful co-existence, kindness spirit and universal brotherhood. So it is this timelessness of dhamma or Buddhism that it has made messages as relevant and meaningful to the people of present modern world as it was those of 6th century BCE.

Main reasons of conflict in the life of an Individual, group, society and Nation:

Usually all the individual of this universe desire peaceful life but some circumstances create a situation which disturbed the peaceful life of individuals. We all are naturally

pure but due to our ignorance we get suffering in the life. The main cause of our conflict is irrational thought and rigid mind. We do not consider or accept the thoughts and ideas of the others tradition or religion (part of Dharma). We create conflict within and without through our improper understanding, and it is not possible to create a healthy and peaceful environment whenever our mind is not in a peaceful state. Therefore the Buddha gave utmost importance on the Mind.

"Manopubbangama dhamma manosettha maomaya[3]"

1. **Religious conflict**: As for as religious conflict is concerned religious conflict is growing more and more in the world. We are looking that the present society, on the name of religion people are killing to each other. It is a dangerous poison which is distributing by the religious teacher to their disciples or followers. They consider and highlight their religious values and principles and degrade the principles of other religion. As we know all religion have their accepted dogmas, or articles of beliefs that followers must accepts without questions. This can lead to inflexibility and intolerance in the face of other beliefs.

   Karl Marx said "Religion is the opium of the people" is one of the most frequently paraphrased of German philosopher and economist Karl Marx. It was translated from German original, **"Die Religion...ist das Opium des Volkes" and is often rendered as religion**... is the opiate of the masses[4]".

   The relationship between religion and conflict is infact a complex one. And these conflicts only can be solved by the religiously motivated peace builder. They can play an important role in addressing message of peace and brotherhood around the world.

2. **Corrupted or Unethical Government**: When we look at the political leaders we find that they are not working for the betterment of nations but for their own interest and just to secure the position which they have got. And due to the corrupt officers and administrator some innocent man becomes a militant or evil doer and then the peace of the society disturbed.

Contribution of Buddhism towards Peace:

Buddhism has contributed a lot for development of peace around the world and all the western countries also influenced the practical teachings of the Buddha. "Historically has been a great source of inspiration for the establishment of peace. It follows the path of love and service the suffering humanity. Violence has always been discarded and peace has always been welcomed in Buddhism.

Buddhism is based on the fundamental principles of universal love and friendship. It preach the gospel of love and compassion the ethical doctrine of Buddhism in humanistic.

It is entirely devoted to the well- being of mankind.

The Buddha throughout his forty five years of teaching the Dhamma, preached on Suffering and the end of Suffering. The Buddha advocated eternal peace while the world desires peace amongst materials gain. The former is permanents bliss while the latter is transitory. The cause of this difference is ignorance of the truth. The Buddha stressed the need for removing the ignorance of the truth. He stressed the need for removing the ignorance which is the root of all evils. He discovered a path through which ignorance can be removed and peace can be achieved in the world. The enlightened one asked his disciple to go forth to preach the Dhamma for the welfare of mankind. In the words of the Buddha, "Oh, Bhikkhu, you should go forth for the welfare of many, for the happiness of many, out of compassion for the world, for the advantages, for the welfare, for the happiness of deities and human beings.

Buddhism is dedicated towards peace, Peace among human beings, peace among all creatures and ultimately peace in the world. It stands for *Bahujanahitaya* and *Bahujanasukhaya* (for the welfare of many for the happiness of many).

The Buddha pinpointed the suffering prevalent among human beings as the root cause of all unrest. His four noble truths namely suffering (*Dukkha*); the Origin of Suffering (*Dukkha samudaya*); the cessation of suffering (Dukkha Nirodha); the path leading to cessation of suffering (*Dukkha Nirodhagamini patipada*) are the foundation of Buddhism.

The first noble truth is that of the Dukkha which means suffering, sorrow or dissatisfaction, in life. All life, to one who sees deeply, is suffering. All living beings are subject to birth, and consequently to decay, disease and death. No one is exempt from these four inevitable causes of suffering. In brief a body itself is caused suffering and is hence Dukkha. We must recognise this truth so that we may not come to grief on.

The second noble truth is about the origin of Dukkha. It arises from craving (*Tanha*). This craving, gross or subtle, this leads to repeated births and deaths are the cause of all the ills in life. It is three fold—*Kama- Tanha* or craving for enjoyment of sensual pleasure' Bhava-Tanha or craving for the various dogma, faiths, views, ideologies, religious or secular, pertaining to the will to live over which rival individuals or groups dispute which harden or closes the mind to truth concerning wholesome ways of life now and here; and Vibhava Tanha or craving for dogmas, views and ideologies pertaining to the will to annihilate life here or hereafter instead of seeking and adopting the unwholesome way of life.

These craving invariably rise in the presence of ignorance or avidya with the help of three defilement- greed (Lobha), hatred (Dosa) and ignorance (Moha). These defilements are the roots of all evils and can be rooted out by knowing fully well that everything is

impermanent, unsatisfactory an unsubstantial (*Anicca, Dukkha and Anatta)*.

The third noble truth is about the cessation of Dukkha which is achieved by the total eradication of all form of craving. It is *Nibbana,* the summum *bonum* of Buddhism, which can be attained. This third noble truth, though dependent on oneself, is beyond logical reasoning and superamundane. Unlike the first two which are mundane, it is purely a realization. It should be noted that the mere cessation of suffering or the mere destruction of craving is not Nibbana. In Nibbana nothing is annihilated because Buddhism denies the existence of a permanent soul or *Atma*.

The third Noble Truth has to be realised by developing the Noble Eightfold Path (Ariya Attahgiko Maggo) which is the fourth Noble Truth. This is the Via Media-Golden Mean, i.e. the Middle Path (Majjima Patipada). It consist of right view (Samma –Ditthi) which means to rid oneself of all superstitions, animism and primitive rite; Right Thought (Samma- Sankappo) which leads towards clear thinking; Right Speech (Samma-Vacca) which entail refraining from falsehood, slandering and harsh words; Right Action (Samma – Kammanto) which deals with abstinence from killing, stealing and sexual misconduct; Right livelihood (Samma- Ajivo) which suggest refraining from trade in arms, human beings and flesh; right efforts (Samma- Vayamo) which is the endeavour to discard evil that has already arisen, the endeavour to prevent the arising of fresh evil, the endeavour to develop unarisen good, and the endeavour to promote good which has already arisen; Right Mindfulness (Samma-Sati) which is the attention paid to the activities and weakness of one's body and mind; and Right Concentration (Samma- Samadhi) which is one pointedness of mind. Of these constituent of noble eight fold path, the first two are grouped under wisdom (Panna), the next there under morality (Sila), and the last three under concentration (Samadhi)"[4].

Generally we are aware about the fact that happiness is based on peace. Peace is the result of the absence of Conflicts. Conflicts, according to the Buddha, are the cause of various kinds of tensions that we face in everyday life. There are tension within each one of us as individual, tension emanating from strife of social, political racial, religious and language groups, within state and societies. Then there are international tensions and also economic tensions between haves and have -nots. These manifold tensions create fear and hatred which lead to all kinds of Discriminations.

Four Brahamvihara (Four virtues leads to development of peace)

The main reason to peace are anger, cruelty, jealousy, attachment to the pleasurable and aversion to the non- pleasurable. These vices are inherent in man. In order to subdue to these, the Buddha asked to his followers to practise the mode of sublimes state, i.e. the four Brahamvihara. They are loving Kindness (Metta), Compassion (Karuna), Joy (Mudita) and Equanimity (Upekkha).

Metta is loving kindness. This attitude is not confined only to the human beings but also to the entire animal and sub-animal creations. This is a sincere wish for the welfare and happiness of all living beings.

Karuna means great compassion towards all beings. Lord Buddha takes a vow not to enter nibbana until all suffering beings destroy their sufferings and realize Nibbana. This is the image of the Buddha as the incarnation of Maha-Karuna, the great compassionate One.

Mudita is the third Brahamvihara. The meaning of the Mudita is to be happy in the happiness of others. This is a great quality of noble beings. This virtue unfolds itself into sympathetic joy.

Upekkha is the fourth Brahamvihara. This is a mental state rather difficult to attain. It is the equanimity between the opposites such as happiness and sorrow, gain and loss, etc. this is known as the state of *thiti – panna* in Pali. One has to remain in this condition unabsorbed and equal.

In brief, the true practice of all these sublime states makes a good ground for the proclamation of peace everywhere in the world by removing all the ills of man.

Peace and conflict studies require understanding the concept of peace which is defined as practical condition that ensures justice and social stability through formal and informal institution, practices and Norms. I think first of all we must try to know the actual purpose of our life then we can transform our energy into a positive direction.

The human being is the highest fruit on the true of evolution.it for the individual to realise his or her position in existence and understand the true meaning of his life. The purpose of life is to achieve the end of suffering.

Understanding the nature of life

It is very important for us to understand the life first. Who we are? From where we came and what are our duties towards this beautiful world? “We dislike to facing the reality of the life and prefer to themselves into a false sense of security by dreaming and imagining. We mistake the shadow for the substances. We fail to realise that life is uncertain, but that death is certain. One way of understanding life is to face and understand death which is nothing more than a temporary end to a temporary existence. Many people do not even like to hear of the word death. We forget that death will come, whether we like it or not. Recollections on death with the right mental attitude can give a person courage and calmness as well as insight into the nature of existence.

Besides understanding death, we need a better understanding of our life. We are living a life that does not always proceeds as smoothly as we would like it to. Very

often, we face problem and difficulties. We should not be afraid of them because the penetration into the very nature of these problem and difficulties can provide us with a deeper insight into life. The worldly happiness provided by wealth, luxury, respectable position in life which most people seek is an illusion because it is impermanent. The fact that sale of sleeping pills and tranquilizers, admissions to mental hospitals and suicide rates have increased in proportion to modern material progress is enough testimony that we have to go beyond worldly, material pleasure to seek for real happiness. This does not mean of course that Buddhism is a negative religion which condemns the acquisition of wealth. Far from it. The Buddha has expressly encouraged hard work to gain wealth because he said the wealth can give a person the opportunity to lead a decent life and to do meritorious action. What he discouraged was attachment to that wealth and the belief that wealth alone can bring ultimate happiness"[5].

Five precepts (Panchsila) in Buddhism:

These are the five virtues given by the Buddha (Panchsila) for the Individuals which spread moral and helpful way for establishing peaceful society. These are as under:

1. *Panapati veramani- sikhapada samadiya*. (The taking of life, I undertake the training rule to abstain).
2. *Adinnadana Veramani –sikkhapada samadiya* (the taking of thing not given I undertake the thing rule to abstain).
3. *Kamesu micchacara veramani –sikkhapada samadiya* (sexual misconduct I undertake the training rule to abstain).
4. *Musavada veramani sikkhapada samadiya* (false speech I undertake the training rule to abstain.
5. *Sura marya majja pamadatthama- veramani sikkhapada samadiya* (intoxicant liquors spirit, and drugs that cause heedlessness; I undertake the training rule to abstain).

Conclusion:

With good will and understanding, the problem confronting mankind can be solved. For this, the noble's qualities of good will and brotherhood have to be cultivated. Thus Metta or Universal love is practised in its true spirit, it could prove panacea for all problems in the world and lay the foundations for a happy human family. The path of Non-violence as enunciated by the Buddha and the founder of others Religions has been appreciated by many great personalities for its validity as a valuable instrument of social transformation. Karuna or unconditional compassion, the positive force behind the doctrine of Non-violence, should be the motive for our acting together to achieve the goal of peace in our time. It should also give birth to the wisdom and means of enabling us to work together through all difficulties, slowly binding us into a world of peace and love.

Thus, today our ardent need of the hour is peace—personal social, national and International. 'To live and let live'. The way to achieve this peace and solution to get rid of the present Annoying problems of life, Political or Spiritual, lies in adapting the sublime.

References and Endnotes:

1. Prof.Sushma Kulshreshtha, *Gems of Buddhism*, Eastern Book Linkers, 1996, p. 69.
2. A.R. Mohapatra, *Philosophy of Religion*, sterling First Edition, 1995, p. 8
3. Dr. Bhadant Aanand kousalayana, *dhammpada* : 1993, publisher corporation body of the Buddha education foundation Taiwan p.1
4. https://www.google.co.in/search?q=what+the+karl+marx+says+abotu+religion, dated-18-12-2017, time 5.25 pm.
5. Prof.Sushma Kulshreshtha, Op.cit .pp. 69 – 72.
6. R.K. Pruthi- S. Ram Archna Chaturvedi, The Buddhist way of Life, Commonwealth , 2011, p. 48.

jkgqyRFkjxkFkk

^^mHk;qdqy lEiUuk] jkgqyHkÌk fr e fonA ;¥pfEg iÙk cQLl] ;s p /kEes lqpD[kqekAA^^

"दोनों ओर से सम्पन्न भद्र राहुल नाम से मुझे जानते है क्योंकि मैं बुद्ध का पुत्र हूँ और धर्मो के विषय में चक्षुमान हूँ।"

^^;s p vklok [kh.kk] ;s p ufRFk iqu©Hkokl vjgk nfD[k.ks;kfEg] rfoTtk verílkAA**

मेरे आस्रव क्षीण हो गए हैं, जहाँ मेरे लिए पुनर्जन्म नही है। मैं अर्हन्त हूँ दक्षिणेय्य हूँ, तीन विद्याओं में निपुण हूँ तथा अमृत निर्वाण दर्शी हूँ।"

वैर रूपी रोग का उपचार – करुणा एवं मैत्री से।

dkyh ;f{k.k dh dFkk

LFkku % tsrou ¼JkoLrh½

u fg oSju ojkfu] lEeUrh/k dnkpuA
voSju p lEefUr] ,l /kEek luUrukAA

अर्थात् घृणा का अंत घृणा से नहीं होता। घृणा का अंत होता है प्रेम, दया, करुणा एवं मैत्री से।

एक गृहस्थ की पत्नी बाँझ थी। उसने किसी संतान का जन्म नहीं दिया । इसलिए उसके पति के परिवार वाले उससे बहुत नाराज रहते थे तथा उसे तरह–तरह से प्रताड़ित किया करते थे। इस समस्या से मुक्ति के लिए उस स्त्री ने अपने पति का ब्याह एक दूसरी औरत से करा दिया। किन्तु हृदय से उसे सौतन का अगमन अच्छा नहीं लगा। अतः दो अवसरों पर जब वह नई औरत गर्भवती हुई तब उस औरत ने उसे एक ऐसी दवा दे दी कि गर्भपात हो गया। तीसरे अवसर पर उसने एक ऐसी दवा दे दी कि उसके गर्भ के साथ ही देहान्त हो गया। मरते समय उस औरत के मन में बाँझ औरत के प्रति घृणा और प्रतिषोध का भाव भरा हुआ था।

अगले जन्मों में उन दोनों में दुष्मनी का सिलसिला जारी रहा। अतः भिन्न योनियों में जन्म लेने पर भी उनमें द्वेश का सिलसिला जारी रहा।

समय बीतता गया। जन्म–जन्मान्तर बीत गए। बुद्ध काल में उनमें से एक ने श्रावस्ती के एक प्रतिश्ठित परिवार में जन्म लिया तथा दूसरी 'काली' यक्षिणी के रूप में जन्म लिया। वैर का सिलसिला जारी रहा। पहली को एक संतान हुई दूसरी उसे मारने के पीछे पड़ गई। पहली घबरा गई और उसने शास्ता की शरण में जाने का निर्णय लिया। उसे पता चला कि बुद्ध जेतवन में प्रवचन दे रहे हैं। अतः वह दौड़ती हुई सीधी वहाँ पहुँची और अपनी संतान को बुद्ध के चरणों में रखकर उनसे अपनी संतान की रक्षा के लिए प्रार्थना करने लगी उधर यक्षिणी को बौद्ध विहार में प्रवेश की हिम्मत नहीं हो रही थी। बाद में बुद्ध ने काल यक्षिणी को भी बुलाया तथा दोनों को डाँटा। बुद्ध ने सबों को बताया कि किस प्रकार हर जन्म में वे एक–दूसरे से बदला लती रही हैं और किस प्रकार वे दोनों एक दूसरे के प्रति घृणा भाव से भरी हुई हैं। बुद्ध ने समझाया कि किस प्रकार घृणा का अंत घृणा से नहीं होता। वरन् घृणा से और अधिक घृणा को सृजन होता है। घृणा का अंत होता है प्रेम, दया, करुणा एवं मैत्री से। दोनों ने अपनी गलती स्वकार की और बुद्ध के उपदेश के बाद उनके बीच का कलह समाप्त हो गया।

तब बुद्ध ने महिला को आदेश दिया कि वह अपने पुत्र को यक्षिणी की गोद में दे दे। औरत पहले तो हिचकिचाई पर बाद में बुद्ध में अटूट श्रद्धा और विश्वास के कारण उसने अपने पुत्र को उसे दे दिया।

यक्षिणी ने बड़े प्यार से उस बालक को गोद में लिया और उसे चूमा मानों वह उसका ही पुत्र हो। फिर उसे उसकी माँ को वापस कर दिया। दोनों के बीच की घृणा समाप्त हो गई।

BODHI-PATH

Half-yearly Bilingual Buddhism, Philosophy and UGC Approved Journal
Reg.DELBIL/2011/41024, ISSN2347-8004

Aim & objects:

- To make known "The Teaching of the Buddha".
- To induce Human and Family Values.
- To promote Moral and Spiritual Values.
- To develop and cultivate Meditation & Wisdom.
- To learn Pali Language & Literature.
- To learn History of Buddhism in India & abroad

Dr. Sangh Mitra Baudh, the Editor, BODHI-PATH
Publisher: Buddha Education Foundation (Trust) Maitrya Buddha Vihar
H-2/48, Sector-16, Rohini, Delhi-110089
E-mail: sanghmb@gmail.com baudhs@yahoo.com, buddhaedu@ymail.com
Conntact: 8447637374, 9968262935, 9212071540, 011-27890923
Website: http://bodhi-path.com

Subscription:
Single copy Rs. 50/- Annual Rs.100/-
Life Rs. 5000/-
Subscriptions may please be sent by Cash, Cheque and D.D, in favour of 'buddha education foundation', A/C-30071010001960, Cenara bank, Rockfield School, sec-16, Rohini, Delhi-110089.

26 January 2018

The Nation Salutes

Dr. Bhimrao Ramji Ambedkar

Father of the Indian Republic and Architect of the Indian Constitution

Buddha Education Foundation (Trust)

E-mail:baudhs@yahoo.com,buddhaedu@ymail.com sanghmb@gmail.com

Contact No.: 9968262935, 8447637374

Website: http://bodhi-path.com